भारतीय ग्रन्थ-माला—संख्या २१

साहित्य की झांकी

—'सत्येन्द्र'

भारतीय ग्रन्थमाला-संख्या २१

साहित्य की झांकी

लेखक

मुक्ति यज्ञ, नर-पिशाच, और कुनाल नाटकों तथा
गुप्तजी की काव्य कला और हिन्दी
भाषा-विज्ञान आदि के

रचयिता

गौरीशंकर 'सत्येन्द्र' एम० ए०, विशारद

शिक्षक सी० ए० इंटरमीजियेट कालिज,

मथुरा

प्रथम वार } सन् १९३६ ई० { मूल्य ।।।)

मुद्रक :—

मंगीलाल गुप्त,

एच० डी० इलैक्ट्रिक प्रिंटिंग वर्क्स,

मथुरा ।

मिलने के पते:—

(१) व्यवस्थापक,

भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन ।

(२) मैनेजर—

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा ।

(३) 'सत्येन्द्र' एम० ए०

गली कानूनगोयान, रामदास की मंडी, मथुरा ।

प्रकाशक :—

भगवानदास केला,

व्यवस्थापक—भारतीय ग्रन्थमाला,

वृन्दावन ।

दो शब्द

मानव समाज अपने सेवकों और हितैपियों से कितना कम परिचित होता है ! कुछ विरले सौभाग्यशाली अपवादों को छोड़ कर साधारणतया होता यह है कि कुछ आदमी तो काम बहुत थोड़ा करके भी येन केन प्रकारेण प्रसिद्ध होजाते हैं, और दूसरे अनेक आदमी सेवा और पर-हित-चिन्तन में दिन रात पसीना बहाते हैं, मरते-खपते रहते हैं, पर गुम-नाम जीवन बिताते हैं, कोई उन्हें जानता नहीं कोई उनके लिए क्रियात्मक तो क्या मौखिक सहानुभूति भी प्रकट नहीं करता । इतिहास में जिन महापुरुषों का हाल हम नित्य पढ़ते हैं, उनके अतिरिक्त कितने ही ऐसे होंगे जिनकी मौन सेवा और त्याग ने ही उक्त महापुरुषों को इतना महान बनाया है, पर इतिहास ने उनके लिए दो पंक्तियों का स्थान भी प्रदान करनेकी कृपा नहीं की ।

* * *

साहित्य-संसार की विलक्षण स्थिति है । कितने ही पैसे वाले आदमी निर्धन लेखकों को साधारण पारिश्रमिक देकर अथवा उसके भी बिना उनकी कृतियों को अपने नाम से छपा लेते हैं, और सुप्रसिद्ध लेखक बन जाते हैं और असंख्य पाठकों से मान प्रतिष्ठा पाते हैं। निर्धन लेखक को इसी में संतोष करना होता है कि उसे किसी प्रकार अपनी उदर-पूर्ति का थोड़ा बहुत सामान मिल जाय । यदि वह मन में कुछ स्वाभिमान रखता है और उपर्युक्त व्यापार में भाग नहीं लेता तो उसके पास हस्त-लिखित प्रतियों के कुछ बंडल अवश्य इकट्ठे हो सकते हैं, पर उनसे उसकी, या उसके परिवार वालों की भूख प्यास नहीं मिट सकती । उसकी पुस्तक की भूमिका लिखने की, कोई गण्य मान्य व्यक्ति क्यों तकलीफ उठाएगा, और उसकी कृति को कोई वणिक-बुद्धि-प्रधान प्रकाशक छपाने की उदारता क्यों करेगा ? ऐसा लेखक गुम-नाम पड़ा रहेगा । अपने जीते जी वह प्रकाश में न

आयेगा-सम्भव है, कोई पुरातत्व प्रेमी संस्था उसके मरने के बाद उसकी हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज करके अपने विवरण में उसका नाम और पता आदि प्रकाशित करने की कृपा करे। अनोखा है यह संसार ! जीवित शहीदों की सुधि नहीं लेता, उनके मरने पर यह उन्हें श्रद्धाञ्जलि चढ़ाने की उत्सुकता प्रकट करता है।

*　　　*　　　*

इस प्रकार की अनेक बातें मन में आती हैं, जब मैं इस पुस्तक के लेखक जैसे व्यक्तियों का विचार करता हूँ। श्री सत्येन्द्रजीने इस समय तक उपन्यास, नाटक, साहित्य, इतिहास, समालोचना आदि विषयों पर फुटकर, तथा पुस्तक-रूप में कितना लिखा, हिन्दी लेकर बी० ए०, एम० ए० की परीक्षाओं में बैठने वालों की कितनी सहायता की, मथुरा में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के साहित्य-रत्न तैयार करने में कितना योग दिया, कितने भावी साहित्यिकों का पथ-प्रदर्शन किया, ये बातें जानने वाले ही जानते हैं। दूसरों के लिए श्री सत्येन्द्रजी एक अपरिचित व्यक्ति हैं, और आत्म-विज्ञप्ति के इस युग में न मालूम कब तक ऐसे ही बने रहेंगे। इनके पास कई पुस्तकों की हस्त लिखित प्रतियां मौजूद हैं, परमात्मा जाने वे कब प्रकाश में आ-सकेंगी। प्रस्तुत छोटी सी पुस्तक उनके महान साहित्य कार्य की भूमिका मात्र है। आशा है, विद्वान पाठक और उच्च श्रेणी के विद्यार्थी इसका यथेष्ट स्वागत करेंगे, और इसके रचयिता को प्रकाश में आने के लिए अपनी शुभ कामनाएँ प्रदान करेंगे।

*　　　*　　　*

इस पुस्तक के मुद्रण में श्री० बाबू संगीलालजी गुप्त का जो प्रेम और उत्साह पूर्ण सहयोग मिला है, वह भुलाया नहीं जा सकता। इसके लिये वे साहित्य-प्रेमियों के धन्यवाद के अधिकारी हैं।

भारतीय ग्रन्थमाला
वृन्दावन।

विनीत
भगवानदास केला

विषय-सूची

सं०	विषय	पृष्ठ
(अ)	गवाक्ष	क से ङ तक
१	हिन्दी में भक्ति-काव्य का आविर्भाव	१
२	विष्णु का विकास	१२
३	सूरदास के कृष्ण	३२
४	अष्टछाप पर मुसलमानी प्रभाव	४९
५	राम में दो तत्वों की संयोजना	६५
६	हिन्दी नाटकों में हास्य-रस	९३
७	भूषण कवि और उनकी परिस्थिति	११३

साहित्य की झाँकी

गवाक्ष
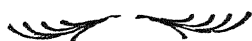
साहित्य अमर ज्योति है। उस में अनन्त प्रकाश है। उसके सार्वभौम विस्तार को हम सुविधा के लिए क्षेत्रों में बाँट लेते हैं।

हिन्दी भाषा में भी उसका एक क्षेत्र है।

साहित्य से परिचित होने के लिए दर्शन की आवश्यकता है। दर्शन की प्रवृत्ति तर्कपूर्ण युक्तिमत्ता और ऐतिहासिक गवेषणा के पथ से अग्रसर होती है। साहित्य में इस विधि से हम यह जानना चाहते हैं कि उसमें बिखरी हुई मूल प्रवृत्तियों में कोई मौलिक सहतत्व और तारतम्य है क्या? क्या उन्हें हम 'प्रवृत्ति' कह भी सकते हैं? इस के साथ ही एक बात और अपेक्षित है। साहित्य में कुछ नाम प्रतीक की तरह आते हैं। कवि उस नाम मात्र से एक विशद व्याख्या उपस्थित करता है। मूल की भांति वह नाम न जाने कितने अर्थ गाम्भीर्य और शक्ति-शालीनता को अपने लघु कलेवर में निहित रखता है। कवि और उसके साहित्य से समुचित परिचित होने के लिए इन नामों की उस व्याख्या की गहराई को नापना कितना आवश्यक है! रस्किन ने कवियों और उनके द्वारा साहित्य की अमर ज्योति के अन्तर्दर्शनकी प्रणाली अपने Sesame Of The Kings Treasuries नामक व्याख्यान में प्रतिपादित की थी।

वहाँ उनका अभिप्राय शब्द की भाषा-वैज्ञानिक रूपान्तरित शक्ति तक ही था। कुछ कुछ उसने शब्द-शक्ति को भी लिया था। मिल्टन की एक कविता में आये हुए Creep, Intrude और Climb, इन शब्दों के महत्व में उसने पिछली बात को स्वीकार किया था। इससे आगे भी एक बात होती है-प्रतीकों की व्याख्या। टैनीसन के सर गैलैहैड के शौर्य (Knight-hood) के अभीष्ट 'Grail' (रक्त-पात्र) की व्याख्या न तो भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण से हो सकती है, न शब्द-शक्ति की ध्वनि से। Grail को इतना महत्व क्यों दिया गया, उसमें उस महत्व की भावना कब से और क्यों आयी? इन पृच्छाओं की संतुष्टि ऐतिहासिक दार्शनिकता से ही हो सकती है। हिन्दी के कवियों और साहित्य को अध्ययन करने के लिए भी इसी प्रणाली की आवश्यकता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास पर कई ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, कुछ विवेचनात्मक भी लिखे गये हैं। उनके रहते हुए भी हिन्दी-साहित्य के रूप का ठीक विकास समझ में नहीं आता। उसका एक बहुत ही महत्व-पूर्ण अंश हमारे सामने से ओझल रहता है। कालों में साहित्य का विभाजन और उसी दृष्टि से उनका विवेचन साहित्य के यथार्थ रूप को समझने में असमर्थ हैं। हिन्दी साहित्य के ऐसे ही इतिहासों से कुछ लोगों के दो प्रकार के भाव हो गए हैं। एक तो यह कि हिन्दी-साहित्य में विकास का सूत्र नहीं, उसमें क़लमें लगाई गयी हैं। दूसरे भारतीय साहित्यिक वातावरण में उसका कोई क्रम युक्त स्थान नहीं। किन्तु ऐसा नहीं है। हिन्दी-साहित्य में विकास की धारा है। एक भाव बीज रूप से अंकुर रूप होता हुआ वृक्ष

में परिणत होता देखा जाता है। साथ ही उसमें काल और परिस्थितियों का सहयोग भी मिलता है।

पृथ्वीराज रासौ और बीसल देव रासौ जैसे ग्रन्थों में मिलने वाली प्रेम-कहानी जायसी और अन्य प्रेम-आख्यान-काव्य-मार्गी कवियों की कहानियों का मूल है और वह कहानी भी साधारण जनता की वस्तु है। इस प्रकार सूफियों की प्रेम कहानियाँ रासौ के बाद अनायास ही नहीं उभर पड़ीं, उन कहानियों द्वारा प्रेम की पीर उत्पन्न की गयी। प्रेम की पीर ने प्रेमी की अपेक्षा अनुभव करायी और भक्त कवियों ने 'साकार' रूप खड़ा कर दिया—यह बात हमारी पुस्तक के पहले निबन्ध में व्यक्त की गयी है। इससे रासौ अथवा चारण-काल, प्रेमगाथा काल और भक्ति काल सुश्रृंखलित प्रतीत होने लगेंगे। यों तो अनेक समस्याएं रासौ और प्रेमगाथा, साथ ही निर्गुणवाद में विचारणीय हैं। पर भक्ति के साकार रूप की समस्या हिन्दी साहित्य के लिए विशेष महत्व की है। इसलिए इस पर ही इस पुस्तक में विचार किया गया है। साकार कई रूपों और भावों में गृहीत हुआ है। इन सान्तर रूपों और भावों से साहित्य में अभिव्यञ्जनाओं और कला में भी मौलिक अन्तर उपस्थित होजाता है। सूर और तुलसी की कला के रूपान्तरों की कुञ्जी ये सान्तर-रूप और भाव ही हैं। वैदिक काल से तुलसी और सूर तक 'विष्णु' किन किन अवस्थाओं में होकर पहुँचा—उसे तुलसी ने किस रूप में ग्रहण किया, और सूर ने किस रूप में, इसे ऐतिहासिक दार्शनिकता ही बतला सकती है। यह जान कर हम केवल सूर और तुलसी की कला की ठीक ठीक व्याख्या ही नहीं कर सकते यह भी समझ सकते हैं कि हिन्दी के प्रतीक अपने अपने इतिहास में अनेकों सहस्राब्दियों के विश्वासों और

संस्कृतियों को छिपाये हुए हैं, दूसरे और तीसरे निबन्धों से यह बात प्रतीत होगी। सूर और तुलसी इन दोनों की कला को ठीक ठीक समझने में कुछ कठिनाइयाँ आती हैं। ऐतिहासिक परिस्थितियों और उनके सम्पूर्ण विषय का सिंहावलोकन न होने के कारण कभी कभी बड़ा अनाचार हो सकता है। हिन्दी साहित्य को ठीक रूप में देखने के लिए ऐसे भ्रमों का निवारण और उनका शिव-स्वरूप उपस्थित करना चौथे और पांचवे निबन्ध का उद्देश्य है। इस प्रकार इन पांच निबन्धों में भक्ति-काल तक के हिन्दी-साहित्य की मूल प्रवृत्तियों का अन्तर्दर्शन होता है। यह पूरा अन्तर्दर्शन नहीं। पूरा पूरा दर्शन करने के लिए बहुत अवकाश की आवश्यकता होती है। यह तो उसकी झांकी है।

इस 'झांकी' में दो निबन्ध और हैं 'हिन्दी-नाटकों में हास्य-रस' और 'भूषण' और उनकी परिस्थिति'। इस पुस्तक में इन दो लेखों के देने का अभिप्राय यह है कि आधुनिक काल और रीति काल का कुछ परिचय मिल सके। यह परिचय इन दो लेखों से मिलता तो अवश्य है, पर पूरे कालों की मूल प्रवृत्तियों की व्यापक परिभाषायें इनमें नहीं। यह दोनों लेख इन कालों के 'अपवादों' के द्वारा अध्ययन की प्रथा पर लिखे गये हैं। साहित्य में भूषण के समय रीतिकाल पूर्ण उत्कर्ष पर था। भूषण उसका होता हुआ भी, उसका 'अपवाद' था। अपवादों से विषयों का अध्ययन बड़ा मनोरञ्जक होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भूषण की कला को समझने के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक और साहित्य की धाराओं को भी समझने का उद्योग किया गया है, फिर भी यह निसंदेह सत्य है कि उसमें साहित्य की मूल प्रवृत्तियों की व्यापक परिभाषा नहीं। आधुनिक

काल में 'नाटक' तो लिखे गये हैं पर उनमें हास्यरस का समावेश एक अपवाद की तरह है। यह स्मरण रखने की बात है कि नाटक इस काल का एक अंग मात्र है। साहित्य का बहुमुखी विकास नाटकों पर लिखने भर से नहीं समझा जा सकता। फिर उसमें भी केवल हास्य--रस पर लिखते हुए उसका परिदर्शन कराना तो और भी दूर की बात है। पर इस लेख में एक बात यह मिलेगी कि साहित्य की विभिन्न परिभाषायें किन अवस्थाओं में होकर रस-प्रतिष्ठा की ओर अग्रसर हुईं तथा योरोपीय और भारतीय नाटकों के दृष्टिकोणों में क्या मौलिक भेद रहा स्वरूप भेद-मात्र नहीं। फिर कम से कम आधुनिक काल के महान् लेखकों का परिचय तो इस लेख के बहाने मिल ही जायगा।

इस प्रकार अध्ययन शैली का स्वरूप उपस्थित करने और साहित्य के अमर रूप और उसके धारा रूप की झांकी कराने के लिए ही यह रचना प्रस्तुत की गई है।

एक प्रश्न रह जाता है। 'भूषण का काल और उनकी परिस्थिति' यह लेख बाद में क्यों दिया गया ? इसका मुख्य कारण यह है कि महात्मा गांधीजी की प्रेरणा से शिवाबावनी के सम्मेलन के परीक्षा--कोर्स से निकाल देने की चर्चा से हिन्दी जगत में 'भूषण' और समस्याओं की अपेक्षा, अधिक आधुनिक हो गये थे। इस लेख में भूषण को ठीक रूप में रखने की चेष्टा है और उसे आधुनिक समस्या समझ कर ही बाद में दिया गया है। वैसे तो स्पष्ट ही काल-व्यतिक्रम है। आशा है पाठक इस गवाक्ष में से इस साहित्य की झांकी का अवलोकन कर इस से सम्यक लाभ उठावेंगे।

एक

'हिन्दी में भक्ति-काव्य

का

आविर्भाव'

'GROWTH

OF

BHAKTI-POETRY

IN

HINDI'

हिन्दी में भक्ति-काव्य का आविर्भाव

हम जानते हैं कि पृथ्वीराजरासौ में ऐतिहासिक आधार में काल्पनिक कहानियों का कहीं-कहीं रंग भरा गया है। वह उस वीर-वर्णन और युद्ध-कथा को कुछ अधिक साहित्यिक, सुन्दर और रोचक बनाने के लिये किया गया है। ये कहानियाँ मुख्यतः पद्मावती के विवाह की कवि की अपनी कल्पना प्रतीत नहीं होतीं। अवश्य ही ऐसी कथाएं-कहानीके रूप में साधारण जन-समुदाय में प्रचलित रही होंगी।

भारत कहानियों का जन्म-स्थान है, ÷यहीं से कहानियों

÷India's Past—This (Folklore) is in fact the most original department of Indian literature.

की कला ने सबसे पहले मनुष्य के मनोरंजन का एक नया द्वार खोला। चौपालों पर बैठे हुए, अगिहानों पर तापते हुए राजा-रानी और उनके विवाह की रोचक कहानियाँ अपने रोचक लहजे में जीवन-यात्रा से विश्रान्त वृद्ध, जीवन–क्षेत्र के नये पटेबाजों को सुनाया करते थे। चन्दवरदायी की पद्मावती की कहानी का ढाँचा—कहीं वहीं से लिया गया होगा। रासौ के इस भाग में कुछ ध्यान देने योग्य बातें हैं।

'पद्मावती पृथ्वीराज को चाहती है। पृथ्वीराज के पास तोते के द्वारा सूचना भेजती है। पृथ्वीराज सेना सजाकर पद्मावती को विवाहने जाता है। विवाह हो जाता है।'

—इसमें स्त्री का पुरुष के प्रति प्रेम और एक पक्षी के द्वारा उसका सम्बाद कहलाना बतलाया गया है।—

प्रेम-मार्ग के काव्य में भी हमें यह ढाँचा दीख पड़ता है। पद्मावत में पद्मावती रत्नसेन को चाहने लगती है। हीरामन तोता उन दोनों के मिलन का साधन है। रत्नसेन घरबार छोड़कर अनेक कष्ट झेलता हुआ सिंहल पहुँचता है। पद्मावती से विवाह होता है और घर लौट आता है।

जिस प्रेरणा ने पृथ्वीराज रासौ में चन्दबरदायी को पद्मावती की कहानी उस युद्ध के युग में लिखने को वाध्य किया, वह प्रेरणा जायसी के समय १५९७ में पूर्ण परिपक्व हो गयी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि रासौ में चन्दवरदायी की प्रतिभा से उपजनेवाली कृति के ही अनुकरण से अथवा उसी से बीज पाकर प्रेम-मार्ग का प्रसरण हुआ, क्योंकि प्रेम-मार्गी

कहानियों के स्वभाव में कई और भी विशेषताएँ प्रतीत होती हैं जो रासौ की कहानी में नहीं। परन्तु इतना तो, फिर भी, निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि लौकिकता की यह झलक बहुत पहले से चली आ रही थी—रासौ में वह अनायास ही कुछ उछल पड़ी, परन्तु राजनीतिक वातावरण की कुछ शान्ति-मय व्यवस्था होते ही तीन या चार शताब्दियों बाद वही धारा बड़े वेग से प्रस्रवित होकर साहित्य-क्षेत्र को सींचने लगी।

प्रेम-मार्ग के काव्यों में केवल राजा-रानी के प्रेम का ही वर्णन नहीं—इसकी कुछ और भी विशेषताएँ हैं।

जिस युग में प्रेम-गाथाओं का आरंभ हुआ वह धार्मिक पुनरुत्थान का युग था! भारतवर्ष में पश्चिम की एक नयी और जोशीली संस्कृति (Culture) अपने पैर जमा चुकी थीं, मुसलमानी सभ्यता को आये कई शताब्दियां हो गयी थीं—वे अब भारत-सन्तान थे, वे अब अरब के निवासी नहीं रहे थे। परन्तु उनके और हिन्दुओं के मत में संघर्ष बराबर जारी था। वह दोनों में भीषण शत्रुता पैदा कर रहा था। एक के हृदय में दूसरे के लिए किञ्चित सहानुभूति, किंचित प्रेम नहीं था—वे दोनों कब आपस में प्रेम करना सीखेंगे ? यह अनेकों सहृदयों के हृदय में उस समय प्रश्न उठता था।

दोनों में शत्रुता का मूल कारण था धार्मिक-विरोध। मुसलमानी आक्रमणों से पूर्व भी अन्य जातियों ने भारत पर आक्रमण किये थे, वे यहाँ आये और भारत के हो गये, उनका कोई अलग मत न था। वे यहां हिलमिल गये। परन्तु मुसलमानों के आक्रमण में केवल राज्य-लोभ, धन-लोभ अथवा अन्य कोई

पदार्थ सम्बन्धी लोभ ही एकमात्र कारण नहीं था। धार्मिक परिणति करना, अपने सत्य धर्म का प्रचार करना उनका एक मुख्य ध्येय था। अतः उनका सारा उत्साह धर्म-मय था, इधर हिन्दुओं में उत्साह तो था नहीं, परन्तु धर्म उनकी सभ्यता और संस्कृति के साथ रक्त में भिद गया था, उनके समाज के शरीर के ढांचे की हड्डियां धर्म की बनी हुई थीं—इससे दोनों में घोर विरोध था। इसे सज्ञान मनुष्य भी देख रहे थे, सहृदय मनुष्य भी देख रहे थे।

सज्ञान मनुष्यों के तर्क को इस समय की स्थिति असह्नीय थी। एक ईश्वर के पुत्र सभी हैं, फिर एक दूसरे का गला क्यों काटा जाय ? मन्दिर-मसजिद के नाम पर झगड़ा होता है। ईश्वर की सर्व व्यापकता में बट्टा लगाने वाले ये गृह न हों वही अच्छा है। दोनों दलों का वैमनस्य मिट जायगा। हिन्दू भी एक ईश्वर मानते ही हैं, मुसलमान भी मानते हैं. फिर झगड़ा क्यों हो ? और भी इसी प्रकार प्रश्न उठते थे।

एक ओर सहृदय दल था, वह भी दुखी होता था। अरे ! क्या इनके हृदय नहीं ! प्रेम का एक झकोरा सारे भेदों को बहा देगा—यदि ये जान जायँ कि प्रेम क्या है ? वह व्यापक प्रेम जो परम प्रेम का साधक है, क्यों न इनको बतलाया जाय ? अतः ज्ञानियों ने अपना काम किया। उनका मार्ग ज्ञान-मार्ग कहलाया, और सहृदयों का प्रेम-मार्ग। इन दोनों का आधार धर्म है—एक में कुछ रूखा और दूसरे में सरस।

इस राजनीतिक स्थिति का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। साहित्य में कबीरदासजी से काव्य की ज्ञान-मार्गी शाखा आरंभ हुई। इस ज्ञान-मार्ग पर भक्ति का प्रभाव था।

वैदिक काल में प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में दैवी शक्ति की कल्पना की गयी। उन बहु-प्रकृति दैवी शक्तियों में उन्हें एक ब्रह्म की सत्ता दिखाई पड़ी। उस ब्रह्म-सत्ता का विवेचन उपनिषदों में हुआ। उस समय 'ब्रह्म' नामक व्यापक शक्ति का नया संस्कार हुआ था। 'केन उपनिषद्' में हमें स्पष्ट ही यह नवीनता दिखलाई पड़ती है। उसमें विचित्र कथानक द्वारा ब्रह्म की विचित्र सत्ता को समझाने का यत्न किया गया है। उस समय अपूर्व तेजवान ब्रह्म को देखकर इन्द्र, अग्नि, वायु, आदि वैदिक प्रकृति-देव आश्चर्य में पड़ गये थे। वे नहीं जानते थे कि यह नवोद्भासित शक्ति क्या है ? साहस-पूर्वक उनमें से एक-एक बारी-बारी परिचय प्राप्त करने लगा—इस कथा में यह स्पष्ट लिखा है कि प्रसिद्ध वैदिक देव उस अपूर्व तेजमय ब्रह्म से अनभिज्ञ थे, वह उनके लिए एक नई वस्तु थी, वह उन्हें आश्चर्य में डालने वाली थी, अतः उन्हें उसका परिचय पाने की उत्कण्ठा हुई। यह ब्रह्म था और उपनिषदों ने उसे खोजा।

उपनिषदों की शिक्षा के विधान में 'ब्रह्म' को जानने की विद्या अत्यन्त गोपनीय और रहस्य पूर्ण समझी गई है। इन विभिन्न व्यापारों में व्याप्त वह 'एक' रूप, रेखा और नाम का विषय नहीं हो सकता और इसलिये वह स्थूल बुद्धि से नहीं समझा जा सकता। सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है—वह सूक्ष्म बुद्धि जो शुद्ध हो, इस मायावी संसार की कलुषता से दूषित नहीं। यह सूक्ष्म बुद्धि भी उसका पूरा ज्ञान नहीं पा सकती क्योंकि वह केवल ज्ञान का विषय नहीं। वह अनुभव किया जा सकता है। उसका अनुभव आनन्द-विभोर करने वाला है। अतः सूक्ष्म-बुद्धि भी उस समय विमोहित हो जाती है, वह अपने

को भूल जाती है । पीछे कुछ अनुमान से, कुछ उस आनन्द के संस्कारावशेष से वह सूक्ष्म-बुद्धि अपनी दशा का ज्ञान प्राप्त कर सकती है—उस 'एक' का ज्ञान फिर भी नहीं पासकती ! इसी कारण उपनिषदों में कहा गया है कि उसे 'न जानने वाला ही जानता है ।' वह एक होने के कारण अनुभव की वस्तु थी, वह हृदय की वस्तु थी, वह भक्ति से ही शीघ्रता पूर्वक पायी जा सकती थी ।

जहाँ कहीं भी 'एक' की उपासना रही है, वहाँ भक्ति का अवश्य समावेश हुआ है । ईसाई मत में 'एक' की प्रधानता है, उसमें भक्ति का प्राचुर्य है, बौद्ध धर्म में एक बुद्ध भगवान् की प्रतिष्ठा है, अतः वहाँ भक्ति की प्रधानता है । उपनिषदों में एक ब्रह्म की सत्ता का निरूपण किया गया, उसको प्राप्त करने के लिये गुरु से उपनिषद् (रहस्य) का ज्ञान पाना आवश्यक था, अतः इसी काल से भक्ति का सूत्रपात हुआ । उपनिषदें ईसा से कई शताब्दि पहले निर्मित हो चुकी थीं । उन्हीं में, संकेत रूप में उपस्थित भक्ति, महाभारत काल में विकसित हुई—इस अन्तिम रूप ने अपनी भक्ति का रूप और प्रकृत कर लिया—उसे साकार कर दिया ।

मुसलमानों के नये संस्कार की छाप ने पुराने संस्कारों के लिये तड़प पैदा करदी । उनके एक ईश्वरवाद की मुठभेड़ करने के लिए उपनिषदों के एक 'अद्वैत' की बड़ी उत्सुकता से पुकार मचायी गई । व्यवहार की कमी हटाई गयी । वर्ण-भेद की व्यवस्था का मूलोच्छेदन तो नहीं किया गया, परन्तु शूद्रों के धार्मिक अधिकारों में उदारता से काम लिया गया । वे भी अब भगवान् से मुक्ति माँग सकते थे । नये धर्म के संघर्ष से रक्षा

करने के लिये इस काल में उपनिषदों और महाकाव्यों के मार्ग पर भक्ति-मत का प्रचार किया गया । यह युग इसलिए, भक्ति-युग था । 'प्रेममार्ग' के ग्रन्थ इस धर्म और भक्ति के प्रभाव से शून्य नहीं रह सकते थे । इस मार्ग के साहित्य में 'लोक-पक्ष' में रोचक प्रेम-कहानियों को लेकर धर्म और भक्ति का पुट मिलता है ।

वीरगाथा काल के 'वीरत्व' के अवशेष-स्वरूप प्रेमी की कठिनाइयाँ हैं ? वास्तव में रण की वीरता ने प्रेम की वीरता का स्थान ग्रहण कर लिया ।

प्रेम-गाथाओं के लिखने वाले अधिकांश मुसलमान सूफ़ी फ़क़ीर थे । इनका मत उदार था । अपनी बात को सीधी तरह सच्ची तरह रखना वे जानते थे । किसी को बुरा-भला कहना इन्हें पसंद न था । हिन्दुओं के वेदांत की तरह ये 'अल्लाह' को अद्वैत मानते थे । उसको पति समझ कर उसी के व्यापक प्रेम से सारे संसार को रँगा हुआ देखते थे । और, इन्हें विश्वास था कि इस प्रेम में जो रँग गया, जिसने इस प्रेम को पा लिया, वह दुखी नहीं रह सकता । फिर उसे किसी से शिकायत नहीं रह जायगी । वह खुद राजा हो जायगा, दूसरों की शिकायतें सुनेगा—वह खुद शिकायतें क्या करेगा । इसी प्रेम के भव्य सन्देश को भारत के उस विषम वातावरण में लाभप्रद समझकर, लोगों की भाषा में और लोगों के ढंग में, उनकी अपने घर की चीज़ बनाकर रखा गया । सचमुच सूफ़ियों की प्रेम-गाथाओं को पढ़कर और उनके रहस्य का मनन करके हृदय कलुषित भावों से ऊपर उठ जाता है, उसे संसार में एक उष्णता और एक नवीन स्फूर्ति दिखायी पड़ती है । वह भेद भाव भूलने लगता है । सूफ़ियों के ग्रन्थों ने प्रेम की

आग भारतीय हृदय में जलाई। उनका यही काम था। उन्होंने 'लोक' को प्रेम के योग्य बना दिया-वह प्रेम किससे, किसके लिये इन बातों का उत्तर देना उन्होंने उचित न समझा-यदि 'प्रेम की-पीर' पैदा हो जाय तो बस! जायसी ने इसी भाव से लिखा—

मुहमद यह कवि जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा।

प्रेम-गाथाओं में सूफियों ने हृदयों में प्रेम की पीर बैठा दी। प्रेम से हृदय में एक अभूत वेदना पैदा करदी। जन-समुदाय प्रेम में विकल हो गया-पर प्रेम किसका करें? प्रेम प्रेम के लिए,प्रेम निर्गुण के लिए। साधारण कोटि के मस्तिष्क के लिए ये सूक्ष्म तात्विक विश्वास अविश्वास से भी अधिक भारी थे। प्रेम में लगन की मात्रा है, प्रेम हृदय की वस्तु है। हृदय की लगन निरूप, निरेख और निर्गुण में नहीं हो सकती। बिना गुण के वह शून्य सा, खाली-सा, और भूना-सा रहता है, इससे उसकी बेचैनी ही बढ़ सकती है, शान्ति का संदेश नहीं मिल सकता। उसमें अवश्य ही आसक्ति की मात्रा होती है, और उचित दिशा में प्रधावित आसक्ति को बुरा नहीं कहा जा सकता। यह आसक्ति निराकार में, जायसी के 'निरगुन' में नहीं हो सकती। लक्ष्य का विस्तार ऐसा भी नहीं होना चाहिये कि अलक्ष्य हो जाय, और ऐसा संकुचित भी नहीं चाहिये कि निर्लक्ष्य हो जाय। बस इसी लक्ष्य की आवश्यकता थी-

प्रेम मार्गियों ने मार्ग बना दिया, अथवा मार्ग साफ़ कर दिया। वह मार्ग सिद्धान्त से'निरगुन'प्रेम का था,अथवा किसी अनंत यात्री के लिये अनन्त-यात्रा का मार्ग था, पर फलतः साहित्य में उस मार्ग को सलक्ष्य कर दिया गया। उस मार्ग के सामने 'सान्त' का रूप खड़ा कर दिया। यह सगुणोपासक भक्त कवियों ने किया।

पवित्र-प्रेम की दिव्य विकलता में जब श्रद्धा और गुण का समावेश हो जाता है तो वही भक्ति हो जाती है। भक्ति में विश्वास है, प्रेम की पराकाष्ठा है, सगुण धारणा है, श्रद्धा है, और अपनत्व का लोप है। प्रेम में आसक्ति है, विश्वास है, अपनत्व का लोप है-ये गुण प्रेम-मार्ग ने पैदा कर दिये। यही प्रेम-मार्ग आगे चलकर 'सगुण 'भक्ति' के रूप में परिणत हो गया। भक्ति-मार्ग ने प्रेम-मार्ग की शून्यता को भर दिया। उसने लक्ष्य के लिये वह रूप रखा था जो एक साथ संकुचित भी था और विस्तृत तथा व्यापक भी; एक साथ अनन्त भी था और सांत भी; एक साथ व्यष्टि भी था और समष्टि भी; एक साथ व्यक्त भी था और अव्यक्त भी; एक साथ तार भी था और स्वर भी; एक साथ कण्ठ भी था और लय भी; एक साथ अग्नि भी था और गति भी; एक साथ सगुण भी था और निर्गुण भी—

यह समय बड़ी ही सुन्दर कलात्मक दार्शनिकता का था। सगुण भक्ति-मार्ग का धर्मचक्र! इसमें कवियों ने अपनी अमर-कला से अनन्त ब्रह्म को-उसके व्यापार-विक्षेप को सविकार साकार खड़ा कर दिया। कम से कम अब ब्रह्म धोखा नहीं दे सकता। उसका सुन्दर स्वरूप हम अनुभव कर सकते हैं।

' भक्तिमार्ग ' के अवतीर्ण होने के मानसिक विकास का क्रम ऊपर बतलाया गया है। हिन्दी-साहित्य में प्रेम-मार्ग और ज्ञान-मार्ग के पश्चात् सगुण-भक्ति का आना अपने रूप में भी स्वाभाविक था-परन्तु इसमें वह स्वाभाविक मार्ग से नहीं आयी। उसके आने का इतिहास भिन्न है। वह उत्तर से नहीं दक्षिण से आरम्भ होता है।

दो

'विष्णु का विकास'

'EVOLUTION
OF
VISHNU'

विष्णु का विकास

ऋग्वेद में हमें ऐसे ही देवता मिलते हैं जो या तो किसी प्रकृति के व्यापार-रूप के द्योतक हैं, अथवा किसी प्रकृति के अंग के नाम हैं। उस समय प्रकृति के जो व्यापार कार्यों के लिये अत्यधिक उपयोगी, तथा जीवन-यात्रा को सुगम बनाने वाले प्रतीत हुए उन्हीं की प्रधानता रही। वही व्यापार मुख्य देव रहे। जो दीख पड़ता था, उसी की नाम-रुपात्मक दिव्यता उन्हें देवता कहने के लिये आकर्षित करने लगी। उनका मानसिक अथवा कलात्मक विकास अभी इस श्रेणी को नहीं पहुँचा था कि जब उसमें नाम रूपात्मक सत्ता के परे केवल भावात्मक सत्ता का भी अस्वित्व होता है। ऋग्वेद को 'छंद' कहा जाता था, वस्तुतः यह एक सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें प्रकृति के विमोहक जादू के चमत्कार का भोला उद्गार ऋषियों ने अपनी अमरवाणी में प्रदर्शित

किया है। इसीलिए उसमें भावात्मक देवों का वर्णन नहीं, किसी गहरी चिन्तवन की झलक नहीं; परन्तु उसमें इन सबसे अधिक कवि-सुलभ-मुग्धता की निसर्ग विज्ञप्ति अवश्य है।

कवि ने जो सामने देखा उसी की सुन्दरता ने उसे मोहित कर लिया, जिस प्रकृति के व्यापार ने उसका कुछ उपकार किया उसी की करोड़ों कंठों से प्रशंसा करने लगा, अत्यन्त बाधित होकर चिर कृतज्ञता का वचन देने लगा। उस समय उसकी दृष्टि में वही प्रत्यक्ष व्यापार सबसे महत्वशाली हो जाता था, अति निकट की वस्तु होने से उसके उस समय के सारे हार्दिक उद्गार उसी के लिए निकल पड़ते थे। उस समय वह भूल जाता था कि दूसरों के साथ वह किसी प्रकार का अन्याय तो नहीं कर रहा। उस समय उसकी तुलनात्मक बुद्धि नहीं रहती थी। यही कारण है कि जहाँ अग्नि का वर्णन आया वहाँ अग्नि को ही सबसे बड़ा बता दिया गया और जहाँ इन्द्र की प्रशंसा की गई वहाँ उसे सबसे बड़ा बतला दिया गया। परन्तु ऐसी दशा अधिक नहीं रही। मैक्स-मूलर ने जिस एकानेक देव की पूजा के लिये एक असामान्य शब्द गढ़ा उसका काल अधिक नहीं रहा।

देवताओं के सम्बन्ध में और भी विचार किया गया। क्या वे केवल प्रकृति-व्यापार हैं? उनके अन्दर दिव्य-शक्ति है। उन्हें यह विश्वास हो गया कि कोई भी कार्य देवों की प्रेरणा बिना नहीं होता। अन्न पकता है देव की कृपा से और अन्न उगता है देव की कृपा से। अतएव अन्न को भोजन-योग्य बनाने में देव अनिवार्य है। देव की कृपा से अन्धकार का नाश होता है, उसके अनुग्रह से हमें दिखाई पड़ता है। ये आर्यों के प्रकृति के देव नाम-रूपात्मक थे, वस्तु थे, इनका आकार था, इनका रूप था, इनका

रंग था। ये समय पर आर्यों की प्रार्थना सुनते और अपनी नियमित व्यापार-क्रिया से उन्हें जीवन की आशावादिता की ओर ले जाते थे। उनसे विचारों में गम्भीरता आई। ज्यों-ज्यों उनको देवों की ये क्रियाएँ नित्य दीखने लगीं त्यों-त्यों वे साधारण से होने लगे और असाधारण नई बातें उनके सामने आने लगीं। वे आश्चर्य में पड़ गये। एवम् उस हिरण्यगर्भ की प्रतिक्षण की नवीन सृष्टि के रहस्य को वे अनुभव करने लगे। अब उनके मस्तिष्क तथ्य को ढूंढने में लगे, और विश्व-प्रकृति उन्हें रहस्यमय दीख पड़ी। वे नाम-रूपात्मक से भावात्मक की ओर बढ़े। इस ओर सबसे पहला पग यही हुआ कि जहाँ कुछ ऐसे देव हैं जो हमारी दैहिक और भौतिक न्यूनताओं की पूर्ति से हमारी अभिलाषाओं को सफल करते हैं, वहाँ ऐसे भी देव होंगे जो दया के भण्डार हों, जिनसे हमारे नैतिक जीवन की न्यूनताएँ दूर हो सकें और जो हमें सुमार्ग पर लाने वाले हों। ऐसे देव भावात्मक ही हो सकते थे।

फिर उन्होंने यह भी सोचा कि हमें जो धन-सम्पति प्राप्त होती है वह भी किसी शक्ति की कृपा का ही फल है। वह शक्ति उनके प्रकृति-व्यापारों में नहीं थी, ऋग्वेद के प्रमुख देवों में नहीं थी। इन्द्र अन्न उपजाने में सहायक हो सकता है, सूर्य उसे पकाने में सहायक हो सकता है, परन्तु उगने और पकने से ही तो वह सम्पत्ति नहीं होगया। और फिर एक अधिक सम्पत्तिवान, दूसरा, उसी दशा में कम सम्पत्तिवान क्यों है? वर्षा एकसी हुई, सूर्य की धूप भी वैसी ही मिली, भूमि में भी विशेष अन्तर नहीं, फिर क्यों एक अधिक सम्पत्तिवान और दूसरा कम सम्पत्तिवान है? अवश्य ही यह किसी की कृपा अथवा अकृपा का फल है। यह प्रकृति-व्यापार नहीं, कोई भावात्मक सत्ता ही हो सकती है। अतः

ऋग्वेद से आगे चल के ऋग्वेद के प्रमुख देवों का नाम तो रहा परन्तु उनका मान उतना न रहा। नये देवताओं ने सिर उठाया। विष्णु जो ऋग्वेद में उज्ज्वल-भविष्यशील साधारण देवता थे उन्हें विकास क्षेत्र मिला—

"The religious and social conditions have changed very much since the time of Rgveda. The old gods of the Rgveda still appear in the Yajurveda-Samhitas and in the Brahmans, just as in the Atharvaveda. But their significance has wholly faded and they owe all the power they possess to the sacrifice alone. Furthermore some gods who still play a subordinate part in the Rgveda step into far greater prominence in liturgic Samhitas and in the Brahmans, as Vishnu, and especially Rudra or Siva."

यजुर्वेद के समय में आर्यों का धर्म पूर्णतः विकसित होकर निश्चित हो चुका होगा। वैदिक धर्म कर्म-काण्ड सम्बन्धी है। वह यज्ञ और योग को महत्व देता है। अतः यजुर्वेद के अन्दर यज्ञ की प्रक्रियाओं और मन्त्रों का समावेश हुआ। यज्ञ करने कराने वाले मान्य समझे गये। यज्ञ-प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। यज्ञ ही सर्व शक्तिमान माना गया। यज्ञ विष्णु माना गया।

विष्णु के इस यज्ञ-स्वरूप की ओर ऋग्वेद में भी संकेत है परन्तु वह बहुत ही हलका। वहाँ 'पूर्वम् ऋतस्य गर्भम्' कहा

गया है। यज्ञ और विष्णु क्यों मिल गये इस सम्बन्ध में एक अनुमान रखा जा सकता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में विष्णु में सूर्य के गुण कहे गये हैं। विष्णु पूषन, मित्र आदि की तरह सूर्य का पर्यायवाची है। अग्नि और सूर्य में भी कोई अन्तर नहीं। अग्नि भूलोक का देव है, सूर्य 'स्व' लोक का। कार्य दोनों का प्रायः समान ही है। अग्नि मनुष्यों के हाथ से हवि ग्रहण करके यज्ञ को सफल करता है, उसे देवों के पास पहुँचाता है, वह देवों का दूत है।

'ज्योतिः सूर्यो सूर्यो ज्योतिः स्वाहा'

'ज्योतिर्अग्निः अग्निर्ज्योतिः स्वाहा'

इन मन्त्रों में सूर्य और अग्नि का एक मान और एक स्थान है। जो अग्नि है वही सूर्य है। अग्नि यज्ञ है, सूर्य यज्ञ है। अग्नि सब देवों का दूत है तो उसे सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता। सूर्य भी भौतिक नाम-रूपवाला है। पूषन, मित्र, सवितर आदि भी अपना अपना कार्य करते हैं, उनका क्षेत्र बँधा हुआ है। ऐसा कोई भी नहीं जो भू, भुवः और स्वः को - पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश को अपनी तीन डगों से नाप लेता हो; ऐसा कोई नहीं जो अन्य देवों (इन्द्रादि) की सहायता करने में यश प्राप्त कर चुका हो। सूर्य के अन्य पर्यायवाची शब्दों से विष्णु में यह आकर्षक अन्तर होने के कारण इस ओर अधिक ध्यान आकर्षित हुआ। अतः विष्णु 'यज्ञ' कहा जाने लगा। और वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। उसने ऋग्वेद के सभी देवताओं का मान-मर्दन कर दिया।

यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें खण्ड के आरम्भ में एक कथा लिखो हुई है। देवताओं में झगड़ा उठ खड़ा हुआ, उसमें विष्णु विजयी रहे, और तब से वे सभी देवताओं में श्रेष्ठ कहे जाने लगे। उनका नाम ही श्रेष्ठ पड़ गया। यह कथा भी यही प्रकट करती है कि फिर ऋग्वेद के सभी देवताओं में विष्णु की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गई।

वस्तुतः विष्णु का उदय, विष्णु का ही नहीं शिव का उदय भी यजुर्वेद से आरम्भ हुआ। फ़ुर्कुहर साहब ने लिखा है कि–

" So far as our evidence goes, it would seem as if Vishnu owed his first elevation to being indentified with the sacrifice by the priests. In that sense his name occurs in hundreds of passages in Yajurveda. "

यजुर्वेद में विष्णु की प्रधानता रही। विष्णु और यज्ञ में कोई अन्तर नहीं रहा। यज्ञ इस समय सर्व-पूजित था। अतः, विष्णु भी उसी स्थान को पा गये।

ऋग्वेद में जो विष्णु बहुत पिछड़े हुए थे, वे यजुर्वेद में चमक उठे। वहाँ विष्णु 'इन्द्र के साथी' थे, उनका पृथक् कुछ महत्त्व न था। उन्हीं विष्णु को यहाँ पृथक् श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो गया। स्थिति में परिवर्तन हो गया। जो यज्ञ पहले कामना-सफल करने और देवताओं को प्रसन्न करने का साधन था वह अब स्वतः साध्य हो गया। वह स्वयम् देवता हो गया। यज्ञ ही विष्णु है, ऐसा कई स्थानों पर कहा गया। विष्णु अब व्यावहारिक कर्म-काण्ड से ऊपर उठने लगे। अब उनके सम्बन्ध

में परिभाषा ही नहीं होती, उनका रूप भावात्मक हो चला। वह कर्म-क्षेत्र से उठकर ज्ञान-क्षेत्र में पहुँचने लगे। इस काल के बाद का साहित्य वैदिक कर्म तथा यज्ञ-याग प्रधान धर्म के प्रति एक क्रान्ति का अध्याय आरम्भ करता है। ऋषियों को प्रतीत होने लगा था कि यज्ञ-याग करने मात्र से काम नहीं चल सकता उस यज्ञ के स्वरूप को जानना आवश्यक है। वह यज्ञ मानसिक भी हो सकता है। बृहदारण्यक के आरम्भ में ही अश्वमेध यज्ञ की मानसिक-उपासना के रूप में व्याख्या की गई है। आरण्यक नगर से दूर एकान्त अरण्यों में रहने वाले ऋषियों के निमित्त प्रतीत होते हैं। वहाँ वे आर्य-धर्म के कर्मों को, यज्ञ-याग आदि, करने में किस प्रकार समर्थ हो सकते थे? वहाँ सुविधा और सामग्री कहाँ थीं? अतः वे मानसिक-उपासना करने लगे।

वे यज्ञ के, आवश्यक प्रतीत होने वाले, उपचारों से भी घबड़ा गये होंगे, यज्ञ की बलि ने भी उन्हें विचलित कर दिया होगा। ऋग्वेद में शुनःशेफ की कथा आयी है।

हरिश्चन्द्र ने वरुण से प्रार्थना की, 'मुझे पुत्र दो मैं उसे आपको बलि दे दूँगा।' पुत्र हुआ। वरुण ने बलि माँगा। हरिश्चंद्र टालता रहा। बड़ा हो जाने पर रोहित (हरिश्चन्द्र का पुत्र) जंगल में भाग गया। वरुण के शाप से हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हो गया। इन्द्र के कहने से रोहित वन में ही घूमता रहा। अन्ततः वह ऋषि अजीगर्त्त के आश्रम में पहुँचा। ऋषि का कुटुम्ब भूखों मर रहा था। उसके तीन पुत्र थे शुनःतुच्छ, शुनःशेफ, शुनोलाङ्गूल। रोहित ने १०० गायें देने का वचन दिया और बदले में ऋषि के एक पुत्र को इस लिये चाहा कि वह बलि चढ़कर रोहित को मुक्त करा दे। बड़े पर पिता का प्यार था,

छोटे पर माता का। अतः शुनःशेफ रोहित के साथ गया। बलि की तैयारी हुई। ऋषि अजीगर्त्त ही गायों के प्रलोभन में अपने पुत्र को बलि चढ़ाने को तय्यार हो गया। शुनःशेफ ने सोचा कि 'क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ फिर मुझे क्यों बलि चढाया जाता है?' उसने सभी वैदिक देवताओं की प्रार्थना की। उषा की प्रार्थना से हरिश्चन्द्र का रोग दूर हो गया, शुनःशेफ मुक्त हो गया। इस प्राचीन कथा के रूप में वैदिक कालीन बलि की भयंकरता के प्रति क्रान्ति दिखायी पड़ती है। भारतीयों की प्रवृत्ति प्रत्येक प्राचीन शक्ति और कृत्य को अत्यन्त सन्माननीय मानने की ओर रही है। वे वैदिक कर्मों को त्याग नहीं सकते थे। उन्होंने उसका रूप बदल दिया उसे मानसिक-उपासना का रूप देदिया। इस काल में ब्राह्मण और आरण्यकों का निर्माण हुआ। इस काल में वैदिक कर्म को मानसिक और भावात्मक रूप मिलने के साथ उनके तथ्य पर विचार करने की ओर झुकाव देखा जाता है।

इसी ब्राह्मण और आरण्यक के समय में 'ब्रह्म' का अधिकार जानने और बताने की चेष्टा की गई। ऋग्वेद में ब्रह्म छन्द के लिये आया। अब ब्राह्मणों के प्राधान्य से ब्रह्म यज्ञ तथा देवताओं से भी बढ़कर हो गया। विण्टरनिट्ज़ ने इसी को लक्ष्य करके लिखा है—

"Thus at last, the conclusion is arrived at, that the Brahman is no longer a 'human god' by the side of the heavenly gods but that he raises himself above the gods. Already in the Satapatha Brahman it is said "The Brahman descended from a Rsi indeed is all deities,"

i. e., in him all deities are incorporated. This presumption on the part of the priests, the beginnings of which we meet in the Brahmans is not only of the greatest interest for the history of culture as an example of priestly arrogance, but........................"

ब्रह्म ने इस प्रकार प्रधानता पा ली। यह ब्रह्म इसी यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण सृष्टि का कर्त्ता हुआ। इसका रूप रहस्यमय होता गया। इस प्रकार कर्म-मार्ग से 'इन्द्र' अग्नि और वरुण' की उपासना को छोड़कर ऋषि लोग जंगल में बैठकर 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में विचार करने लगे। कर्म-मार्ग की क्रांति ज्ञान-मार्ग में हो गयी। इस प्रत्यावर्तन ने ब्राह्मणों के युग का विकास उपनिषदों के रूप में कर दिया।

उपनिषदों में ऋषि कवियों ने इस रहस्य को बड़े मनोरंजक ढंग से रखने की चेष्टा की। वे रहस्य को—उस ब्रह्म को अलौकिक बतलाने लगे। जो ब्रह्म को जानता है वह सबको जानता है, उसकी प्राप्ति उसे मुक्त कर देगी। इस युग में वैदिक कर्म-मार्ग तथा बलि और यज्ञ-याग की कट्टरता प्रायः शून्यवत् ही रह गयी थी। इस प्रकार धीरे-धीरे वैदिक कट्टरता में परिवर्तन होता चला। इन्हीं उपनिषदों में अथर्ववेदीय उपनिषदों में हमें साम्प्रदायिक देवताओं के रूप दीख पड़ते हैं।

अथर्ववेद से हमें जिस ज्ञान-विज्ञान का पता मिलता है उसपर बहुत कुछ लौकिकता का प्रभाव है। कुछ समुदाय तो आज भी अथर्ववेद को वेद मानने के लिए तैयार नहीं। निस्संदेह

अथर्ववेद वहुत काल वाद वेदों में सम्मिलित किया गया। उसका सम्पादन भी वहुत वाद में हुआ। इस लौकिक प्रभाव से युक्त वैदिक उपनिषदों में यदि लौकिकता का प्रवेश हो तो आश्चर्य की वात नहीं। अथर्ववेद की उपनिषदों को विद्वानों ने तीन मुख्य भागों में विभक्त किया है। Weber लिखता है—

"The Atharvopanishads, which are also distinguished externally by the fact that they mostly composed in verse, may themselves be divided into three distinct classes, which in their beginnings follow the earlier Upansihads with about equal closeness. Those of the first class continue directly to investigate the nature of Atma or the supreme spirit; those of the second deal with the subject of absorption (yoga) in meditation there on and give the means whereby, and the stages in which, men may even.........and lastly, those of the third class substitute for Atma some one of the many forms under which Siva and Vishnu the two principal gods, were in the course of time worshipped."

उपनिषदों में—यजुर्वेद, सामवेद, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की प्रथम और द्वितीय कोटि के उपनिषदों में 'ब्रह्म' की विवेचना की गयी। वह विचित्र और सर्वशक्तिमान समझा गया है। सामवेद की केनोपनिषद में ब्रह्म की यह विचित्रता और सर्व-

शक्तिमत्ता एक मनोहर कहानी के रूप में समझायी गयी है ।

एक देव-सुर-संग्राम में 'ब्रह्म' की कृपा से देवों को विजय मिली। सभी देव इस विजय के अभिमान में फूलकर अपनी प्रशंसा करने लगे। वे यह न जान सके कि वास्तव में इस विजय का कारण क्या है ? उस ब्रह्म ने ऐसे अभिमान को दूर करने का निश्चय किया, वह उनके मध्य में एक विचित्र परन्तु पूजनीय के रूप में उत्पन्न हुआ ।

"ते अग्निमब्रुवन जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिती तथेति॥१६।३॥ केन'

अग्नि को उस पूजनीय का परिचय प्राप्त करने का भार दिया गया। 'अग्नि' उस ब्रह्म के समक्ष गया। ब्रह्म ने अग्नि की शक्ति के सम्बन्ध में जानने की उत्सुकता प्रकट की। अग्नि ने बड़े गर्व-पूर्वक अपनी शक्ति का बखान किया। एक हलका-सा तृण ब्रह्म ने अग्नि की परीक्षा के निमित्त उसके सामने रखा। अग्नि अनेक प्रयत्न करने पर भी उसे न जला सका। वह उस पूजनीय व्यक्ति का पता न पा सका। इसी प्रकार वायु, इन्द्र आदि सभी देवता हार गये ।

इस कथा से यह ऐतिहासिक तथ्य निकल सकता है कि उस समय तक अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओं की प्रतिष्ठा थी; कोई एक स्वयम्-भू सर्वात्मा सत्ता भी है, इसका विशेष ज्ञान नहीं था। उस ब्रह्म ने अपनी शक्ति का परिचय दिया। अग्नि उस ब्रह्मत्व से शून्य रहकर तुच्छ है, वायु भी निस्सार है और इन्द्र भी प्रतिष्ठाहीन है। उपनिषदों के ऋषि-कवियों ने उसी विष्णु-सर्व शक्तिमान को खोजा और उसका महत्त्व समझाया।

यज्ञ में ब्रह्म की प्रधानता हुई। उस ब्रह्म का मानसिक

रूप स्थिर हुआ । वह यज्ञ की प्रधानता से सृष्टि में परमतत्त्व समझा जाने लगा । उन्हें निश्चय हो गया "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव"—ब्रह्म देवताओं में सर्व प्रथम हुआ (अथर्ववेदीय मुण्डक १) । वही

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११।४३

आगे-पीछे, दक्षिण-उत्तर, ऊपर-नीचे—यहाँ तक कि सारा विश्व ही ब्रह्म है ।

यहाँ तक हमने भारतीय धर्म-दर्शन में देवताओं के विकास का रूप देखा । विष्णु एक साधारण देव से यजुर्वेद का सहारा पाकर सर्व-देव और श्रेष्ठ की कोटि में पहुँचे । ब्राह्मणों ने उसी यजुर्वेद से कर्म-काण्ड में सर्व-पूज्य प्रतिष्ठा पाकर यज्ञ को सर्व-लक्ष्य बनाकर, उन्हें सर्व-शक्तिमान की श्रेणी में पहुँचाया, फिर ब्रह्मत्व के द्वारा सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा के रूप में 'ब्रह्म' का सब से ऊँचा स्थान कर दिया गया । 'ब्रह्म' नामी एक सर्वव्यापी सत्ता मानी जाने लगी जो सूर्य एवम् समस्त संसार में भी है । वह परम-आत्मा हो गया ।

अभी तक ब्रह्मदेव था, वह एक रहस्य था, उसका कोई आकार विशेष न था । आकार की प्राचीरों से मुक्त, रहस्य की स्वच्छन्द वायु को भोगता हुआ यह ब्रह्म विश्व-देव के रूप में ग्रहण किया गया । यह ब्रह्म विश्व-आत्मा के रूप में दूसरी कोटि की उपनिषदों का विषय बना । साम्प्रदायिक उपनिषद् तीसरी श्रेणी में रखे गये हैं । उनमें आत्मा के स्थान पर विष्णु अथवा शिव के किसी रूप को रख दिया गया है । इनमें से कुछ पूर्ववर्ती योग-सिद्धांत के आधार पर हैं । बाद के उपनिषदों में उनके देवताओं के निजी

गुणों का अधिकाअधिक प्रकाशन किया गया है। इस श्रेणी के उपनिषदों की एक भारी विशेषता यह है कि प्रायः सभी के अन्त में पाठ करने वालों और मनन करने वालों के लिये बड़े-बड़े बरदानों की आशा दिलाई गई है, और विशेष आराध्य के पवित्र शव्दों और पूजनीय सिद्धान्तों का भी कहीं-कहीं अन्त में उल्लेख है। अब विष्णु इन उपनिषदों में कैसे विकसित हुए?

विष्णु सम्प्रदाय के उपनिषदों के सम्बन्ध में सबसे पुराना रूप, जिसमें कि विष्णु की आराधना और उपासना हुई, **नारायण** है। यह नाम सब से पहले शतपथ ब्राह्मण के दूसरे भाग में मिलता है, यहाँ इस शव्द का सम्बन्ध विष्णु से नहीं, यहाँ तो यह जैसे मनु और विष्णु-पुराण के आरम्भ में आता-ब्रह्म (पुल्लिंग) का द्योतक है। तैत्तरीय आरण्यक की नारायणीयोपनिषद् में भी यही बात है। अथर्ववेद की बृहन्नारायणोपनिषद् में भी यही लिखा है। इसमें इतना तब भी है कि उसे (नारायण को) 'हरि' नाम दिया गया है और एक स्थान पर तो वासुदेव और विष्णु से भी सीधा उसका सम्बन्ध कर दिया गया है। महा-उपनिषद् में ही सब से पहले नारायण स्पष्ट रूप से विष्णु का प्रतिनिधि गोचर होता है। महा-उपनिषद् एक गद्य रचना है। इसके प्रथम भाग में नारायण से विश्व का प्रादुर्भाव बतलाया गया है, और दूसरे भाग में नारायणोपनिषद् के मुख्य स्थलों का अन्वय है। इसमें नारायण को विष्णु बतलाया गया है, क्योंकि शूलपाणि (शिव) और ब्रह्म उससे उद्भूत होते हैं। परंतु नाम से उसे विष्णु कहीं नहीं कहा गया। नारायणोपनिषद् में यह बात नहीं। वहाँ महाभारत के १२ वें सर्ग के नारायण नामक अध्याय की तरह उससे विष्णु भी प्रादुर्भूत होते हैं। यहाँ जो

मंत्र सिखलाया गया है वह यह है 'ओ३म् नमो नारायण'। इस उपनिषद् का एक दूसरा पाठ भी उपलब्ध है, जो अथर्व-शिराओं का एक भाग है। उसमें देवकी पुत्र मधुसूदन को विशेषत: 'ब्रह्मण्य' (पवित्र) कहा गया है। यह बात आत्म-प्रबोध उपनिषद् में भी है, जिसमें नारायण को परमेश्वर कह कर अभिहित किया गया है। गर्भोपनिषद् में भी नारायण को इसी गुण से युक्त बतलाया गया है।

इसके बाद विष्णु का दूसरा रूप नृसिंह है। अब तक जितना अनुसन्धान हुआ है उससे यह विदित होता है कि विष्णु को नृसिंह नाम से तथा वज्रनख और तीक्ष्ण उपाधियों से पहले-पहल तैत्तरीय आरण्यक १०-१-८ (नारायणीयोपनिषद्) में लिखा गया है। जिस उपनिषद् में इनकी सब से पहले उपासना की गई वह 'नृसिंहतापनी' है। यह अपेक्षाकृत अधिक बड़ी है। इस के दो भाग हैं। दोनों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश इस त्रयी का बराबर उल्लेख हुआ है।

यह सम्भवत: ईसा की चौथी शताब्दी का है क्योंकि उसी समय भारत के पश्चिमी घाट पर नृसिंह की पूजा प्रचलित थी, जिसका अब कहीं चिह्न भी नहीं मिलता।

रामतापनी उपनिषद् में राम की परम ब्रह्म की भाँति उपासना है। यह नृसिंहतापनी उपनिषद् से अधिक मिलता-जुलता प्रतीत होता है। दूसरे भाग में तो यह मेल और भी अधिक है। इसमें याज्ञवाल्क्य राम के दिव्य ऐश्वर्य के व्याख्याता की तरह आते हैं। साम्प्रदायिकता की पूरी छाप वहाँ मिलती है जहाँ पर स्वत: शिव (शंकर) राम से यह प्रार्थना करते हैं कि वे उन

व्यक्तियों का जो मणिकर्णिका या गंगा में मरें मुक्त करदें। यह उपनिषद् रामानुज-शाखा का है। इसकी तिथि ग्यारह वीं सदी हो सकती है।

विष्णु को विष्णु, पुरुषोत्तम, वासुदेव नाम से परमात्मा की भाँति कई उपनिषदों में स्मरण किया गया है। कुछ में कृष्ण देवकी पुत्र की तरह आते हैं (आत्मप्रबोध और नारायण), परंतु वे परमात्मा की तरह नहीं आते। गोपालतापनी में उन्हें पहले-पहल दिव्य कोटि में रखा गया है। इसमें पहले मथुरा और ब्रज की गोपियों का वर्णन है। फिर मथुरा 'ब्रह्मपुर' बतलाया गया है। निस्सन्देह यह बहुत आधुनिक है, क्योंकि इसमें और उपनिषदों की सी कोई बात नहीं। विषय और भाषा की दृष्टि से भी प्राचीनता नहीं झलकती। गोपीचन्दन उपनिषद् का भी संभवतः यही स्थान है।

वेबर से लिए हुए इस लम्बे अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्प्रदायिक छाप से मुद्रित उपनिषदें बहुत पुरानी नहीं हैं। उनमें नूतन युग की बहुत सी बातें लिखी हुई हैं। कम से कम 'तापनीयोपनिषदें' तो अवश्य ही नयी हैं। निस्सन्देह बौद्धों से पूर्व विष्णु पूजा का आरम्भ हुआ परन्तु उसकी अवतार रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद की है।

इतिहास का सिंहावलोकन इसे ठीक दिखा देता है कि जिस पथ से भारतीय सभ्यता की धारा विकास की ओर जा रही थी उसमें अभी भक्ति-क्षेत्र नहीं आ पाया था। कर्म को वेदों ने उठाया, ज्ञानवाद को उपनिषदों ने चोटी पर पहुँचा दिया। कर्म के लिए आडम्बर की आवश्यकता थी, वह समाज के लिए,

साधारण जनता के लिये एक झंझट का काम था। 'ज्ञान' कुछ विरक्तों और विद्वानों की जंगली कुटियों तथा पर्णशालाओं के शान्तवातावरण की मननीय सम्पत्ति रह गया। सबको उस तक पहुँच कहाँ थी ? लोक-समुदाय उसे उचित आदर देना चाहता था। वह उनका विरोधी नहीं था। जो कुछ महापुरुषों के दिव्य-मुख से निकलता उसे लोक ग्रहण कर लेता था और अपने रूप में ढालकर उसे काम में लाता था। बहुत काल से यही प्रथा थी।

समाज के पास कवि-हृदय था। जिस कवि-हृदय ने आदि वैदिक काल में अपने उद्दाम हृद्धाम की उफनती हुई भावनाओं से प्रकृति के व्यापारों के रहस्य को 'रूप' दिया, उनसे अपना निकटत्व स्थिर किया एवम् उनमें सचेतन मनुष्य की क्रियाओं की सृष्टि करदी वही कवि-हृदय इस समय 'ब्रह्म' के रहस्य को अपने समय के अनुसार बनाने में सचेत था। ऐसे ही युग में 'महा-भारत' और 'रामायण' का जन्म हुआ।

'मा निषाद·················' इन शब्दों में अनायास ही लौकिक काव्य-धारा महर्षि के मुख से प्रवाहित हो उठी। तात्पर्य, वैदिक और औपनिषदिक ढांचे पर लौकिक-रंग चढ़ गया। उस पर 'लोक' की छाप गहरी बैठ गयी। वह विष्णु जो रहस्यमय ब्रह्म था, अनादि, अनन्त, अजर, अमर आत्मा था राम हो गया, नारायण हो गया, नृसिंह हो गया और वही कृष्ण हो गया।

'महाभारत' और 'रामायण' इन दोनों ग्रन्थों का मनन करते हुए एवं उसके विषय का विश्लेषण करते हुए विद्वान् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। उन्हें इन महाकाव्यों में बहुत प्रक्षिप्त और
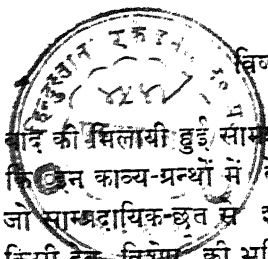
बाद की मिलायी हुई सामग्री प्रतीत हुई है। उनका विश्वास है कि इन काव्य-ग्रन्थों में देवताओं का एक वह रूप मिलता है जो साम्प्रदायिक-छूत से शून्य है और दूसरा वह जो विशेषतः किसी देव विशेष की भक्ति का प्रचार करने के लिए लिखा गया है। महाभारत में विष्णु की अत्यधिक प्रधानता स्पष्ट दीख पड़ती है। वह विष्णु की उपासना के प्रचार के ही लिए लिखा गया प्रतीत होता है। इस प्रकार 'महाकाव्य' काल में 'विष्णु' का रूप यह हो गया–

राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अविगत, अलख, अनादि, अनूपा॥
सकल-विकार-रहित गत भेदा।
कहि नित-नेति निरूपहिं वेदा॥

भगति-भूमि-भूसुर-सुरभि, सुर-हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज-तन, सुनत मिटहि जगजाल॥
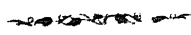
तीन

'सूरदास के कृष्ण'

'KRISHNA OF SURDAS'

सूरदास के कृष्ण

सूरदासजी वल्लभसम्प्रदाय के कवि हैं। वल्लभसम्प्रदाय के आदि आचार्य श्रीवल्लभ और विट्ठल ने जो अष्टछाप बनायी, सूरदासजी उसमें प्रधान हैं। अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने में कितनी महान् सहायता पहुँचायी, इसके कहने अथवा प्रमाणित करने की आज आवश्यकता नहीं। निश्चय ही सूरदासजी के 'कृष्ण' केवल राधा अथवा गोपी मात्र के प्रियतम, उनके शृंगारी-ढांचे की आत्मा ही नहीं। रीतिकालीन कवियों के कृष्ण की तरह आशिक-माशूक अथवा किसी नायिका के प्रियतम नहीं; वे तो एक विशेष विश्वास और सम्प्रदाय की वस्तु हैं। वल्लभसम्प्रदाय की दृष्टि में कृष्ण ब्रह्म हैं, वह विष्णु, ब्रह्मा और शिव सब के परे हैं। फ़र्क़ुहर साहब ने अपने ग्रन्थ An Outline of The Religious Litera-

ture of Hindus में लिखा है—" कृष्ण–जो कि सत्-चित-आनन्द ब्रह्म है, उसी की एक मात्र सत्ता है। अग्नि से चिनगारियों की तरह कृष्ण से यह (Material World) पदार्थ संसार,; आत्माएँ और अन्तरयामिन् अथवा अन्तः-निवसित देव प्रोद्भासित हैं। आत्माओं में–जो परिमाणु-रूप और ब्रह्म के तुल्य हैं, तीनों गुणों की सम अवस्था में विकार हो जाने के कारण आनन्द-गुण लुप्त हो जाता है। अतः उनमें केवल सत-चित गुण ही मिलते हैं। मुक्त आत्माएँ कृष्ण के स्वर्ग को जाती हैं—जो कि विष्णु, शिव और ब्रह्म के स्वर्ग से कहीं ऊपर है और वहाँ कृष्ण के प्रसाद से वे दिव्य विभूतिमय शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं।"

इसकी पुष्टि आर० जी० भाण्डारकर के लेख से भी होती है। वे कहते हैं—"श्रीकृष्ण परम ब्रह्म हैं.........उसका शरीर सत्-चित्-आनन्द मय है। वह पुरुषोत्तम कहलाता है......... अतः कृष्ण परमानन्द है। उसकी इच्छा से उसका सत्व-अंश आनन्द–अंश को दबा देता है और अक्षर अथवा अपरिवर्त्तनशील हो कर वह सब कारणों का कारण होता है और जगत् की सृष्टि करता है। यह अक्षर ब्रह्म दो प्रकार का है:—(१) वह जिसे भक्त पुरुषोत्तम का स्थान मानते हैं; जिसमें व्यापी–वैकुण्ठ आदि के लक्षण होते हैं। (२) ज्ञानियों को यह सत, चित और आनन्द, काल और देश में असीम, स्वोद्भूत और सब गुणों से शून्य दिखलायी देता है। अतः जिस रूप में वह ज्ञानियों को दिखलायी देता है, उसमें अस्तित्व–गुण छिप जाते हैं अथवा उक्त अलक्षित शक्ति के द्वारा वे अदृष्टिशील कर दिये जाते हैं। अतः उनका अभाव (none existing) नहीं माना जा सकता। जब ब्रह्म को सब गुणों से रहित बतलाया जाता है

तब उसका ठीक यही तात्पर्य होता है। अतः परमात्मा के तीन रूप हैं, अक्षर ब्रह्म के दो।

पुरुषोत्तम परमात्मा का एक रूप है। वही सब का शासन-कर्त्ता है, इसके लिए उसका वह रूप जो सूर्य्य, देवों, पृथ्वी, आदि में रहता है, अन्तर्यामी कहलाता है। यह अन्तर्यामी ही प्रसिद्ध रूप से अवतरित होता है। कृष्ण का दिव्य सत्व-गुण विष्णु हो जाता है। इस रूप में वह सब का पोषक है। इस प्रकार रजस् और तमस् गुण ब्रह्म तथा शिव होकर सृष्टि और संहार का कार्य करते हैं।

इन अवस्थाओं के देखने से इसमें किञ्चित मात्र भी संदेह नहीं रहता कि वल्लभसम्प्रदाय में कृष्ण को विष्णु से-त्रिदेवों से ऊपर माना गया है। अब देखना यह है कि सूर-दासजी ने वल्लभसम्प्रदाय की अवधानता में काव्य करते हुए कृष्ण को किस रूप में स्वीकार किया है।

सूरसागर में हमें स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण के लिए 'हरि' शब्द का प्रयोग मिलता है। केवल विनय में ही नहीं, राम-चन्द्रजी के सम्बन्ध में तथा यशोदा के घर की कृष्ण-लीलाओं में जहाँ-तहाँ 'हरि' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। इसके अति-रिक्त कमलानायक, माधव, मुरारि, केशव, राजीवनैन, गोविन्द, त्रिभुवनपति आदि शब्दों का प्रयोग भी है। ये सभी शब्द विष्णु के लिए प्रयोग में आते हैं। दीनानाथ, करुणानिधि आदि साधारण विशेषता-द्योतक शब्दों का भी प्रयोग है।

विनय का यह पद 'हरि' ही नाम से प्रारम्भ हुआ है—

' चरण कमल बन्दौं हरि राई '

'माधव' का प्रयोग निम्न-लिखित प्रसंग में हुआ है:—

' माधव 'जू नेकहु टकौ गाइ'-वाणी की वाचालता के सम्बन्ध में माधव से प्रार्थना की गयी है।

' माधव जू जो जनतें बिगरे '

× × × ×

'कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपनु भरोसे लरिहौं'

× × × ×

' मनारे माधव सों करि प्रीति ' आदि—

'मुरारी' का प्रयोग देखिए—

' अब के नाथ मोहिं उधारि
मग नहीं भव अम्बुनिधि में कृपासिंधु मुरारि।
तुम सर्वज्ञ सबै विधि समरथ असरन सरन मुरारि ॥
रे रे अन्ध बीसहू लोचन, परतिय हरन विकारी।
सूने भवन गवन तें कीन्हों, सेस-रेख नहिं टारी ॥
अजहूँ कह्यो सुनै जो मेरो आये निकट मुरारी ॥'

यहाँ ' मुरारी ' श्रीरामचन्द्रजी के लिए आया है।

' राम-युद्ध ' का वर्णन करते हुए सूरदासजी लिखते हैं—

सुरपुर तें आयो रथ सजि कै रघुपति भये सवार।
काँपी भूमि कहा अब ह्वै है, सुमिरत नाम मुरारि ॥

वामन-अवतार के सम्बन्ध में लिखते हैं—

एतौ विप्र न होवे राजा, आये छलन मुरारी।
कहि भौं शुक्र कहा धौं कीजे, आपुन भये भिखारी ॥

यहाँ वही 'मुरारी' शब्द 'वामनावतार' के लिए लाया गया है।

अब 'गोविन्द' शब्द को लीजिये—

'गोविन्द कोपि चक्र कर लीन्हों'–भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए जिस समय श्री कृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ दिया उस स्थल का वर्णन करते हुए श्रीकृष्णजी के लिए 'गोविन्द' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'गोविन्द सौं पति पाय, कहाँ मन अनत लगावै'—यहाँ विनय में इष्ट देव को 'गोविन्द' नाम से पुकारा गया है।

'खेलन चलिय बाल गोविन्द'–बाल–लीला के वर्णन में बाल-गोविन्द श्री कृष्ण के लिए है।

पुनः 'गोवरधन–धारण' में श्री कृष्ण की स्तुति करते हुए कहा गया है—

'जय माधव गोविन्द मुकुन्द हरि'

श्रीकृष्ण को 'राजिवनैन' 'कमल नयन' आदि नामों से भी श्री सूरदासजी ने स्मरण किया है। यह सभी नाम विष्णु के पर्यायवाची हैं। इन नामों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूरदास के लिए श्री कृष्ण विष्णु भगवान के अवतार थे।

फुर्कुहर के कथन से विदित होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय वाले कृष्ण को ब्रह्म-सत-चित्-आनन्द स्वरूप मानते हैं और उसे विष्णु, ब्रह्मा और महेश से परे समझते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश–यह त्रिमूर्ति पुराणों द्वारा विकसित धर्म का मूल है। अठारह पुराणों में सभी पुराणों ने इन्हीं

त्रिदेवों में से किसी एक को प्रधानता देकर उसी सम्बन्ध में कुछ विचित्र चरित्रों का गान किया है। सभी पुराण इन देवों में से किसी न किसी के महत्त्व और गौरव का प्रतिपादन करने के लिए लिखे गये प्रतीत होते हैं। इन पुराणों ने प्रत्येक देव का एक विशेष रूप खड़ा कर दिया है। उसका चरित्र और उसके कार्य एक विशेषता लिए हुए हैं, जिससे तीनों देव बिना हिचकिचाहट के स्पष्ट पृथक् जाने जा सकते हैं।

सूरदासजी में हमें इन्हीं विष्णु के दर्शन मिलते हैं। सभी वैष्णवों की तरह यहाँ श्री कृष्ण को अवतार तो माना ही गया है; अनेक स्थलों से यह भी स्पष्ट सूचित होता है कि श्री कृष्ण अवतार तो हैं ही परन्तु विष्णु के अवतार हैं। कृष्ण का वर्णन करते समय जहाँ उन्हें त्रिमूर्ति के अन्य देवों के वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है वहाँ उन्हों ने ब्रह्मा और शिव इन दो देवों का ही वर्णन किया है विष्णु का नहीं। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि वे कृष्ण को विष्णु समझते हैं, अन्यथा वे विष्णु का भी वर्णन साथ ही करते, जैसा तुलसीदासजी ने अनेक स्थलों पर किया है।

ऐसी दशा में हम यह नहीं मान सकते कि सूरदास कृष्ण को ब्रह्म समझते हैं और उन्हें विष्णु, ब्रह्म, और महेश इन तीनों से ऊपर कोई शक्ति मानते थे।

ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जहाँ कृष्ण को अवतार बतलाया गया है। अपनी स्वाभाविक सुन्दर शैली में सूरदास ने बड़े ही श्लाघनीय ढंग से श्री कृष्ण को विष्णु का अवतार बतलाया है। वही विष्णु जिनकी नाभि के कमल से ब्रह्मा उत्पन्न

हुआ, वही विष्णु जिसने दश अवतार ग्रहण किये, राम बनकर सीता खोजी, रावण का संहार किया तथा वामन बन कर बलि को छला और तीन डगों में सारे लोकों को नाप लिया, वही विष्णु जिन्होंने परशुराम बन कर पृथ्वी को क्षत्रिय-रहित करने की प्रतिज्ञा की, वही विष्णु जो शेषशायी और क्षीर-सागर-निवासी है, वही भागवत के विष्णु हैं। वामन-अवतार का वर्णन करते हुए सूरदास जी लिखते हैं:—

ए तौ विप्र न होवे राजा, आये छलन मुरारी,
कहिधौं शुक्र कहाधौं कीजै, आपुन भये भिखारी,
जब ही उदक दियो बलि राजा, वामन देह पसारी,
जय जयकार भयो भुवि नापत, तीन पैंड़ भई सारी,
आध पैंड दे बसुधा राजा, नातरु चल सत हारी,
अब सत क्यों हारौं जगस्वामी नापौ देह हमारी,
सूरदास बलि सर्वस दीनौं, पायो राज पतारी,

जानकी के वियोग में रामचन्द्रजी की विह्वल दशा का वर्णन करते-करते कवि अपनी टिप्पणी देता है:—सूरदास प्रभु प्रिया प्रेम-वश, निज महिमाहु बिसारी'— 'निज महिमा' से सूरदास (प्रभु की ओर) उनके विष्णुत्व की मर्यादा की ओर संकेत करते हैं।

श्रीकृष्ण जन्म के समय विष्णु के दर्शन का वर्णन है:—

'हरि मुख देखिये वसुदेव,
कोटि काम सरूप सुन्दर, कोउ न जानत भेव।
चारि भुज जाके चारि आयुध निरख लै कर ताउ॥

यहां 'कोऊ न जानत भे॰' और 'चारि भुज जाके चार आयुध' ये वाक्य कृष्ण के विष्णु अवतार की ओर संकेत कर रहे हैं।

अब श्रीकृष्ण के स्वप्न का वर्णन देखिये। सूरदासजी कृष्ण में जो शक्ति अनुमान करते हैं, उस शक्ति का स्वप्न भी किसी वास्तविकता से शून्य नहीं हो सकता। साधारण मनुष्य चाहे न समझ सके, परन्तु दिव्य-दृष्टि के लिए—देवताओं के लिए; वह रहस्य इतना गुप्त नहीं रहता। उसे देख कर ब्रह्मा तथा शिवजी भ्रम में पड जाते हैं:—

'देखि स्वप्न गति त्रिभुवन कंप्यो, ईस विरंचि भ्रमावै'—

ब्रह्मा और शिव को भ्रम में डालने वाली बात यह है:—

श्वास उदर उरसति यो मानों, दुग्ध सिन्धु छवि पावे।
नाभि सरोज प्रकट पद्मासन उतरि नाल पछितावे॥
कर सिरतरु करि श्याम मनोहर अलक अधिक सौं भावै।
सूरदास मानों पन्नगपति, प्रभु ऊपर फन छावे॥

पालने का शयन यशोदा और गोकुल-वासियों की दृष्टि में है। परन्तु देवताओं की दृष्टि में ही शेषशायी विष्णु का शयन है। यहां सूरदास ने लोकों की अर्थात् संसार की दृष्टि और देवों की दृष्टि अलंकार के सहारे बड़े ही कौशल से एक स्थान पर रख दी है। इसको जान कर फिर कोई सन्देह नहीं रहता कि श्रीकृष्ण की लौकिक क्रियायें अपनी दैवी क्रियायों से पूर्ण तुल्यता रखती हैं—यह प्रतिरूप है। श्रीकृष्ण—वह श्रीकृष्ण जी यशोदा के पालने में शयन कर रहे हैं शेषशायी विष्णु ही हैं।

फिर सूरदास कृष्ण को ही दशों अवतार लेने वाला बतलाकर हमारे निश्चय को और भी दृढ़ कर देते हैं। यहाँ भी कवि ने काव्य-कौशल से काम लेकर हमें यह दिखाया है कि भगवान् विष्णु ने सगुण बालरूप कैसे धारण किया? माता के लिए वह किस रूप में प्रकट होते हैं? माता यशोदा कृष्ण से

कहती हैं कि हे लाल जंगल में हौवा आ गया है इसलिए दूर खेलने न जाना। बलराम को यशोदा के इस मातृोचित आदेश पर हँसी आजाती है। वे श्रीकृष्ण के विराट् अवतारशील रूपों का स्मरण करते हैं और इस समय के अबोध बाल-जीवन के ऊपर विचार करते हैं। वे कहते हैं:-

अब डरपत सुनि-सुनि ए बातें, कहत हँसत बलदाऊ।
सप्त रसातल शेषासन रहे, तब की सुरत भुलाऊ॥
चारि वेद लै गयो संखासुर, जल में रहे लुकाऊ।
मीन रूप धरि कैं जब मार्‍यौ, तबहिं रहे कहाँ हाऊ॥
मथि समुद्र सुर असुरन के हित, मंदर जलधि धसाऊ।
कमठरूप धरि धरनि पीठ पर, सुख पायो सहि राऊ॥
जब हिरनाच्छ युद्ध अभिलाख्यौ मनमें अति गरबाऊ।
धरि बाराह रूप रिपु मार्‍यौ, लै छिति दंत अगाऊ॥
विकट रूप अवतार धर्‍यौ जब, सो प्रहलादहिं नाऊ।
धरि नृसिंह जब असुर विदार्‍यौ, बहां न देख्यो हाऊ॥
बामन रूप धर्‍यौ बलि छलि कैं, तीन पैंड बसुधाऊ।
स्रम जल ब्रह्म कमंडलु राख्यौ, दरस चरन परसाऊ॥
मार्‍यौ मुनि बिन ही अपराधहिं कामधेनु लै आऊ।
इकइस बार निछत्र जब कीनी, तहाँ न देखे हाऊ॥
सूर्पनखा तारिका सँहारी, खर दूषन त्रिसिराऊ।
सिंधु सेतु बांध्यो पषान सौं, तहां न देखे हाऊ॥
राम रूप रावन जब मार्‍यौ, दस सिर बीस भुजाऊ।
लंक जराय छार जब कीनी, तहां न देखे हाऊ॥
नृपति भीम सौं युद्ध परस्पर, तहँ वह भाव बताऊ।
तुरत चीर द्वै टूक कियो धरि, ऐसे त्रिभुवन राऊ॥

यमुना के तट धेनु चरावत, तहाँ सघन वन झाऊ।
पैठि पताल व्याल गहि नाथ्यौ, तहाँ न देखे हाऊ॥
माटी के मिस वदन विगारयो, जब जननी डरपाऊ।
मुख भीतर त्रैलोक दिखायो, तबउ प्रतीत न आऊ॥
भक्त हेतु अवतार धरे सब.........................

बलराम फिर श्रीकृष्ण की अलौकिकता की ओर संकेत करते हैं। श्रीकृष्ण बाँध दिये गये हैं। उस समय बलरामजी की कथन देखिये—

निरखि स्याम हलधर मुसुकाने।
को बांधै को छोरै इनको, यह महिमा एई पै जानैं॥
उत्पति प्रलय करत हैं एई, सेष सहस मुख सुजस बखानैं।

फिर लिखा है—

निगम स्वरूप देखि गोकुल हरि,
जाको दरस दूरि देवन को।
सो बांध्यौ यसुदा ऊखल धरि॥
× × ×
छीर समुद्र सयन संतत जेहि।
मांगत दूध पतोखी दै भरि॥

भक्त के वश होने के कारण अनन्त के सान्त रूप होजाने से जो विषमता दीख पड़ती है, उसे भक्त अपार अनुकम्पा समझ कर उसी पर अत्यन्त विमुग्ध और लट्टू हो जाता है। इसी भक्त भावना से प्रेरित होकर सूरदास ने इस 'विषमता' को कई स्थानों पर दिखाया है और उस पर मुग्ध हुए हैं। लौकिक रूप से तुलना करने के लिए अलौकिक रूप, दिखलाना पड़ा है। यही विराट रूप

का स्वरूप है। इसी विषमता को दिखलाने के लिए सूरदास जी लिखते हैं—

वदन विरंचि विशेष सुकृत व्रजवासिन के।
श्री हरि जिनके भेष सुकृत व्रजवासिन के॥

ज्योति रूप जगनाथ जगत-गुरु, जगत पिता जगदीस।
योग यज्ञ जप तप में दुर्लभ, गोपन गोकुल ईस॥
इक इक रोम विराज कोटि तनु, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।
सो लीन्हों अवछंग यशोदा, अपने भरि भुजदण्ड॥
जाके उदर लोल त्रय जल थल, पंच तत्व चौखानि।
सो बालक ह्वै झूलत पलना, यशुमति भव नहिं आनि॥
छिति मिति त्रिपद करी करुनामय, वलि छलि दियो पतार।
देहरि उलंघि सकत नहिं सो अब, खेलत नंद दुआर॥
अनुदिन सुरतरु पंच सुधारस, चिंतामनि सुर धेनु।
सो तजि यसुमति को पय पीवत, भक्तन के सुख देनु॥
रवि ससि कोटि कला अवलोकत, विविध ताप छय जाई।
सो अञ्जन करलै सुत कहि चपु, आँजत यशुमति माई॥

* * *

गोवर्धन धारण के समय श्रीकृष्ण की इस प्रकार प्रार्थना की गयी है:—

"जय माधव गोविन्द मुकुन्द हरि।
कृपासिन्धु कल्यान कंस अरि॥
प्रनतपाल केशव कमला पति।
कृष्ण कमल लोचन अनन्य गति॥
श्री रामचन्द्र राजीव नैन बर।
सरन साधु श्रीपति सारंग धर॥
बनमाली विट्ठल बामन बल-इत्यादि

उपर्युक्त सभी नाम विष्णु के हैं। सूरदास जी ने फिर 'बलराम' को हँसने का अवसर दिया। गोवर्द्धन उठा चुके हैं, यशोदा पुत्र प्रेम में श्री कृष्ण की भुजाओं को दाब रही हैं। वह समझती है कि इतना विशाल पहाड़ उठाये रहने से बांह में पीड़ा होती होगी—परन्तु बलराम हँसते हैं:—

ठाड़े देखि हँसत बल राम।
चौदह भुवन उदर में जाके,
गिरिवर धरचो बहुत यह काम॥

भला यह कोई बात भी हो, यशोदा घबड़ा रहीं हैं-अरे-

कोटि ब्रह्माण्ड रोम-रोमनि प्रति, जहां तहाँ निसि बासर धाम।

फिर भी बड़ा आश्चर्य है कि—

जोई आवत सोई देखि चकृत ह्वै, कहत-करे हरि कैसे काम॥

अरे! ये अबोध क्या जानें-इन्हीं कृष्ण ने—

नाभि कमल ब्रह्मा प्रगटाये, देखि जलार्नव तज्यो विश्राम।
आवत जात बीच ही भटक्यो, दुखित भयो खोजत निज धाम॥

घोर आश्चर्य है—

तिनसों कहत सकल ब्रजबासी,
कैसे कर राख्यो गिरि श्याम,

इन अवतरणों से यह निर्विवाद परिलक्षित है कि श्रीकृष्ण अवतार थे विष्णु के अवतार थे। हम देखही चुके हैं कि श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्यों का तथा उनकी अलौकिक दशा का जहां भी वर्णन किया गया है उसमें विष्णु के गुणों का आरोप है-परन्तु कहीं भी श्रीकृष्ण को विष्णु नाम से नहीं पुकारा गया। जहां कृष्ण के नामों की गिनती की गयी है, वहां भी 'विष्णु' नाम नहीं लाया गया। गोविन्द, मुकुन्द, हरि, वामन, रामचन्द्र, विट्ठल,

केशव, माधव, ये नाम तो लिये गये हैं परन्तु विष्णु नाम नहीं लिया गया।

फिर क्या गोविन्द, मुकुन्द, हरि, आदि से किसी और का तात्पर्य समझा जाय ? नहीं। इसका निश्चय भी हो जाता है। हमारे यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। यदि कहीं कृष्ण का वर्णन करते समय शिव और ब्रह्मा का ही उल्लेख किया जाय, विष्णु का वर्णन न हो तो यह मान लेना चाहिये कि कवि श्रीकृष्ण को ही विष्णु समझता है। इसमें कोई दोष भी नहीं। इसी लिए कई स्थलों पर ब्रह्मा और शिव का वर्णन किया गया है विष्णु का नहीं। राम के रण का वर्णन है—

आजु अति कोपे हैं रन राम।
ब्रह्मादिक आरूढ़ विमानन देखें सुर संग्राम॥

× × ×

इन्द्र हँस्यो हर हँसि बिलखान्यो, जानि बचन सों भंग।

यहाँ ब्रह्मा और शिव का उल्लेख है, इन्द्रदेव तक का वर्णन है परन्तु विष्णु का नहीं।

'दिनकर किरन उदित ब्रह्मादिक, रुद्रादिक इक ठाऊँ'
यहां भी ब्रह्मा और रुद्र का उल्लेख है विष्णु का नहीं।

कर गहि पग अंगुठा मुख पेलत।

× × ×

'सिव' सोचत' विधि' बुद्धि विचारत वट बाढ्यो सागर जल झेलत

यहाँ शिव और ब्रह्मा का उल्लेख है विष्णु का नहीं।

"देखि स्वप्न गति त्रिभुवन कंप्यो ईस विरंचि भ्रमावै"

यहाँ भी केवल ईस और विरंचि का ही वर्णन है।

जगदीश भगवान् श्रीकृष्ण के पदों का वर्णन करते हुए लिखा गया है:—

'चरन कमल वंदौं जगदीस जे गोधन के संग धाये'

× × × × ×

'जे पद कमल शम्भु चतुरानन,
हृदय कमल अन्तर राखे ।

यहाँ भी केवल शम्भु और चतुरानन का ही उल्लेख है।

जब ब्रह्मा का उल्लेख है। शिव का उल्लेख है तो विष्णु कौन हैं क्या सूरदासजी नहीं जानते थे? यह कभी सम्भव नहीं कि पुराण-गाथाओं में पारंगत सूरदासजी विष्णु जी से परिचित न थे। अतएव फिर उन्होंने विष्णु का उल्लेख क्यों नहीं किया? फलतः इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वही अलौकिक कृष्ण विष्णु हैं। इसीलिए त्रिमूर्ति में कृष्ण के समक्ष ब्रह्मा और शिव ही नाम लिया गया है। अतः यह तो निर्विवाद सिद्धि है कि सूरदासजी कृष्ण को विष्णु का अवतार मानते थे।

चार

'अष्टछाप

पर

मुसलमानी प्रभाव'

MUSLIM INFLUENCE

ON

'ASHTACHAP'

'अष्टछाप' पर मुसलमानी प्रभाव

वास्तविक साहित्य की सृष्टि उन्नतमना प्रतिभाओं के द्वारा ही होती। किसी कवि का अध्ययन करते ही हमें इस प्रतिभा का प्रकाश मिलता है। जहाँ वातावरण में स्वच्छन्दता नहीं वहाँ कवि नहीं पनप सकता। और ऐसा कवि जो युगान्तर उपस्थित करने वाला हो वह तो कभी भी नहीं पनप सकता। किसी के इशारे से काव्य-रचना करने वाले कभी उस आदर के पात्र नहीं हो सकते, जो सूर और तुलसी को मिला है। शेक्सपीयर मीठी और कड़वी समलोचनाओं के होते हुए भी आज तक संसार को प्रभावित किये हुए है। अँग्रेजों के जीवन में शेक्सपीयर और बाइबिल में से किस का अधिक प्रभाव है, इसे कौन ठीक-ठीक बता सकता है। धार्मिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन हो जाने अथवा क्रान्ति उपस्थित हो

जाने पर बाइबिल का महत्त्व घट अथवा बढ़ सकता है। किन्तु मानव स्वभाव में जब तक मानवीय स्वभाव रहेगा शेक्सपीयर कभी अरुचिकर नहीं हो सकता। अपनी इतनी नवीनताओं के साथ भी यह नया युग कोई ऐसा साहित्य नहीं रच सका जो शेक्सपीयर को स्थानच्युत कर सके।

तभी कारलायल ने एक स्थान पर कहा था–India or no India we cannot give our Shakespeare. सारी भौतिक समृद्धि और वैभव से ऊपर वह कवि है जो स्वतः अमर होकर जातीय चेतना और जातीयता को भी सुरक्षित रख सकता है। ऐसा कवि समय के प्रभाव से साधारण रूप से अछूता रहता है। समय का रंग भी सब काल की वस्तु होकर उपस्थित होता है। अतः सामयिकता भविष्य का इतिहास बन कर, भूत की दिव्य-कल्पना बन कर काव्य में प्रवेश पाती है।

तुलसीदास के रावण में हम मुसलमानी शासकों को देख सकते हैं। संतों को कष्ट देने, उनके भाग छीन लेने में हम हिन्दुओं की तत्कालीन दयनीय दशा को पढ़ सकते हैं। 'भगति, भूमि, भूसुर, सुरभि, सुर हित लागि कृपाल, मुसलमानों के अत्याचारों से कौन पीड़ित न था, भक्तों को अपनी चिन्ता थी। उनकी आराधना का साकार स्वरूप भीषण गदाओं से छिन्न-भिन्न होकर जीवन को संकटापन्न बना रहा था। रोज रोज के राज-परिवर्तन, राज-कलह, युद्ध-नियन्त्रण से भूमि की दुर्दशा थी। उसमें धान्य और शस्य पैदा करने का अवसर ही न था।

प्रजा के लोग मन्थरा की भाँति यह विचारने लगे थे—

कोउ नृप होइ हमहिं का हानी

ब्राह्मणों की आर्तकथा कौन कहे ? उनकी पाठशालाएँ नष्ट-

भ्रष्ट करदी गयीं। चोरों की भाँति अपने घर ही में उन्हें अपना अध्ययन अध्यापन करना पड़ता था। गायों की भी कहाँ कुशल थी? देवताओं के लुप्त होने का भय था।

पीरा पयगंबरा दिगंबरा दिखाई देव

इसमें अतिशयोक्ति को कितना स्थान है? इन सब पंक्तियों में समय का दर्शन है। किन्तु यह सब समय की वस्तु होकर आया है। कवि किसी भी वस्तु को सामयिक महत्त्व अथवा किसी प्रेरणामात्र से ग्रहण नहीं करता। फिर मुसलमानी काल के वैष्णवों का वातावरण ही और प्रकार का था। उनसे ऐसी कभी आशंका नहीं की जा सकती कि वे कभी किसी के इशारे पर नाचेंगे। फिर विधर्मियों के इशारे पर तो नाचना उन्हें एक दम असह्य था।

इतिहास को ठीक न समझ सकने वाले को भ्रम का बहुत अवकाश रहता है। अनेक बातें ऐसी है जिनके सम्बन्ध में भ्रम है। और यह सब इतिहास का ठीक ज्ञान न होने के कारण है।

यह कहना कि शृंगार-रस की रचना हिन्दी में अकबर अथवा अन्य किसी राजा अथवा शाहंशाह के इशारे के कारण हुई, इतिहास के ककहरे की भी ज्ञान-शून्यता बतलायेगा, और उसमें भी राजा का कोई राजनीतिक मन्तव्य ढूँढ़ना तो महा अनर्थ होगा। शृंगार-रस सूरदास अथवा नन्ददास की कृति नहीं। पुराने भारत में इसका अस्तित्व मिलता है। कालिदास तो अकबर अथवा मुसलमानी काल में नहीं हुए? शकुन्तला जैसी विशुद्ध प्रेम की दिव्य मूर्ति को शृंगार का मूर्त मोहक और नग्न आलंबन उन्होंने लिया सो क्या हिन्दुओं को मुसलमानों का गुलाम बनाने के लिए अथवा उनमें कायरता भरने के लिए?

भवभूति ने मालती और माधव की कल्पना भी सम्भवतः इसी मन्तव्य से की थी! और आज रवीन्द्रनाथ भी संसार को क्या नपुन्सक बनाने का आयोजन कर रहे हैं?

शृङ्गार-रस की रचनाओं का विरोध किसी सिद्धान्त की दृष्टि से करने का सब को अधिकार है, किन्तु उसकी रचना करने वाले पर कोई अनुचित दोष लगाना और अप्रामाणिक बात कहना अक्षम्य समझा जाना चाहिए। सूरदास और 'अष्टछाप' के कवियों ने राधाकृष्ण के सम्बन्ध में शारीरिक की, रचनाएँ की, वे रचनाएँ उनकी कवि-कल्पना और धर्म–संदेश की प्रेरणा से थीं। उनमें समय का उतना भी दिग्दर्शन नहीं जितना तुलसीदास जी में। 'अष्टछाप के कवियों के लिए कृष्ण का कर्त्ता रूप महत्त्व नहीं रखता। वे कंस को मारते हैं, तथा अन्य राक्षसों को मारते हैं, यह उनके काम की चीज़ नहीं। उनके इस संहारक रूप का भाव उनके उदात्त स्वभाव को बल भले ही प्रदान करता हो परन्तु उनके लिए गौण है। तुलसीदास ने रावण के अत्याचारों और नृशंसता का चित्र खींचा है, उसमें कुछ तत्कालीन आभास मिल सकता है, किन्तु कंस ने क्या किया इसका वर्णन करने का अवसर सूरदास अथवा 'अष्टछाप' के कवियों को नहीं था। वे तो कृष्ण को लीला को ही अपने सामने रखते हैं। लीला का भी वह भाग जो मधुर और प्रेयस है।

साधारण दृष्टि से ही एक बात का पता लग जाता है कि तुलसीदास के राम मानव जीवन के आदर्श से बहुत कुछ ऊँचे उठ कर आते हैं। वे बन-जंगल में भी राजा की तरह विचरते हैं। राम में मानव-जीवन का प्रत्येक पहलू और उसका महत्त्व हमें मिल सकता है। किन्तु उसमें व्यापकता नहीं। कृष्ण हमारे

सामने बिल्कुल हमारे होकर आते हैं। उनकी बाललीला को पढ़ कर हम अपने बालकों में कृष्ण का अनुभव करने लगते हैं। बड़े होने पर हम अपने हृदय की उद्दाम भावनाओं में राधाकृष्ण का आकर्षण अनुभव कर सकते हैं। कृष्ण इस प्रकार मानव जीवन में व्यापक हो गये हैं।

परमानन्ददास जी ने एक पद रचा और उसमें यह चरण रखा—"परमानन्ददास कौ ठाकुर पिल्लनि लायौ घेरि।"

इनमें निश्चय ही कोई दिव्यता अथवा स्वभाव-चित्रण या मार्मिकता न थी। यह पद नष्ट करा दिया गया। परन्तु इससे एक बात कितनी स्पष्ट होती है। अष्ट-छाप के कवियों का यह कितना आग्रह था कि वे जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया में उसी भगवान् को भर दें। उन्हें चारों ओर उनका सजीव, चतुर और सयौवन कृष्ण दिखाई पड़ता है। उनकी इस अनन्यता को कोई बुरा बतलाये तो बता सकता है, किन्तु यह कहना कि उसमें काव्य की प्रेरणा किसी राजनीति के सूत्र-धार के कारण थी कभी ग्राह्य नहीं है।

मुसलमानों के दरबार से किसी भी अष्ट-छाप के कवि का सम्बन्ध नहीं रहा था। उन्हें अपने कृष्ण और कीर्तन-गान से छुट्टी ही कब थी। कृष्ण को एक क्षण के लिए भी विसारना उनके लिऐ पाप था। ऐसा था वैष्णव कवियों का वातावरण। वह अकबर के समय तक बहुत घनिष्ठ हो गया था।

व्यास मिश्र बहलोल लोदी के कृपा-पात्र थे। उन्हें चार-हज़ारी का मनसब मिला हुआ था। उनके पुत्र श्रीहितहरिवंशजी थे। हितहरिवंशजी बाद में महाप्रभु हुए और राधावल्लभीय सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। बहलोल लोदी ने श्री हितजी

को दरबार में बुलवाया। मंत्री भेजे गये। मंत्री ने कहा—'हितजी चलिए सुलतान आपके पिता के गुणों पर मुग्ध हैं, वे आपको देखना चाहते हैं। वे तुम्हें बहुत कुछ देंगे।

मंत्री ने कहा—

कुंअर तुम्हें नृप देखौ चाहें। व्यास मिश्र के गुन अवगाहैं॥
पट भूषण धन देहैं भलौ। मन सब लेहु नृपति पै चलौ॥

हितजी जा सकते थे। उनके द्वारा लोदी कोई राजनैतिक कार्य भी नहीं कराना चाहता था। जैसे राजामहाराजाओं को एक धुन होती है, ऐसी ही एक धुन बहलोल को हितजी के देखने के लिए उत्पन्न हुई थी। किंतु एक भक्त के लिए यह बड़ी बात थी। हितजी ने क्या कहा?

कुंवर कही तब मधुरी बानी। काल-ग्रसित सब विश्व बखानी॥
ब्रह्मलोक लौं नश्वर जानी। नृप संपति की कौन कहानी॥

हितजी नहीं गये।

लोदियों के बाद मुग़लों का शासन भारत में हुआ। हितजी की भावना और भी परिपक्व होती जा रही थी। हितजी ने भी जिस भावना से प्रेरित होकर कहा था वह उनकी वैयक्तिक धारणा न थी। वह धर्म-प्रसूत थी। यह धारणा सभी भगवद्भक्तों में विद्यमान् थी। सभी राजा और राजसत्ता से विरक्त थे। अकबर के हृदय में एक धार्मिक जिज्ञासा थी। वह चाहता था कि मैं भारतीय हो जाऊं। धर्म और साहित्य सभी में वह ऐसी वस्तु की खोज में था जो उसे ठीक मार्ग बतादे। उसने धर्माचार्यों से

वार्तालाप किया। उसने संगीतविदों से भेंट की और उन्हें सम्मानित किया। इतिहासज्ञ, विद्वान् और कवियों से वह सदा घिरा सा रहता था। जिसका भी नाम उसके कान में पड़ जा। था उसी को वह बुला भेजता था। उसने कुंभनदास जी को बुलाया, किंतु वहाँ कौन जाता।

संतन कहा सीकरी सौं काम।
आवत जात पनहियां टूटीं बिसरि गयौ हरिनाम ॥

ऐसा स्थल तो त्यागने के योग्य है ही। सूरदासजी का यश उनके संगीतविद् होने के कारण विशेष था। संगीत में उनके शतशः शिष्य थे। उनके कारण सूरदास की ख्याति फैल रही थी। इन्हें भी अकबर ने बुलवाया। अनिच्छापूर्वक सूरदास जी गये। अकबर प्रसन्न हुआ। उसने कुछ सुनने की अभिलाषा प्रकट की। सूरदास देव, मतिराम, पद्माकर, केशव तो थे नहीं। अकबर सम्राट् क्यों संसार का स्वामी भले हो, उन्हें आतंकित नहीं कर सकता था।

ऊधौ और गोपियों के बहाने ज्ञान और भक्ति का जो विवाद भ्रमरगीत में है, उसमें गोपियों से किसने ऊधौ को यह बताते नहीं सुना :—

ऊधौ मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयौ स्याम सँग को आराधै ईस ॥

* * *

और

मधुकर मन तौ एकै आहि।
सो तो लै हरि संग सिधारे जोग सिखावत काहि ।

* * *

ऊधौ मन नहिं हाथ हमारे,

❀ ❀

जो भक्त गोपियों की तरह अपना मन दे चुका हो, जिसके पास अपना कुछ भी न हो वह भला कब किसके प्रभाव में आ सकता है। वह तो अकबर के सामने भी सूरदास की तरह यही कहेगा—

मना रे, तू कर माधव सौं प्रीति ।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू, छांड़ि सबै बिपरीति।
भौंरा भोगी बन भ्रमै, मोद न मानै ताप ॥
सब कुसुमनि मिलि रस करै, कमल बँधावै आप ।
सुनि परिमित प्रिय प्रेम की, चातक चितवन पारि ॥
घन-आसा सब दुख सहै, अंत न जांचै बारि ।
देखौ करनी कमल की, कीनौं जल सौं हेत ॥
प्रान तज्यो प्रेम न तज्यो, सूख्यो सरहि समेत ॥
मीन बियोग न सहि सकै, नीर न पूछै बात ।
देखि जु तू ताकी गतिहि रति न घटै तन गात ॥
प्रीति परेवा की गिनौ, चाहै चढ़न अकास ।
तहँ चढ़ि तीय जु देखिये, परत छांड़ि उर स्वास ॥
सुमिर सनेह कुरंग को, स्रवननि राच्यौ राग ।
धरि न सकत पग पछमनो, सर सनमुख उर लाग ॥

❀ ❀

चौरासी बैष्णवों की वार्त्ता में लिखा है :—

"यह पद देशाधिपति के आगे सम्पूर्ण करिकै सूरदासजी ने गायौ सो यह पद कैसौ है जो या पद कौ अहर्निस ध्यान रहै तौ

भगवदनुग्रह की सदा सार्ति रहै और संसार ते सदा वैराग्य रहै और कुसंग को सदा भय रहै और भगवदीय के संग की सदा चाह रहै और श्री ठाकुरजी के चरणारविन्द ऊपर सदा स्नेह रहे देहादि के ऊपर आसक्ति न होय। ऐसो पद देशाधिपति को सुनायौ सो सुनिकैं देशाधिपति बहुत प्रसन्न भया और कह्यौ जो सूरदास मोकों परमेश्वर ने राज दीनौं है सो सब गुनिजन मेरौ जस मानत हैं ताते मेरौ जस कछू गावौ। तब सूरदास ने यह पद गायौ सो पद—

इस पद को सभी जानते हैं।

नाहिंन रह्यौ मन में ठौर।
नन्द-नन्दन अछत कैसे आनिये उर और।
चलत चितवन दिवस जागत, सुपन सोवत राति।
हृदय ते वह मदन मूरति छिन न इत-उत जाति।
कहत कथा अनेक ऊधौ, लाख लोभ दिखाइ।
कहा करौं चित्त प्रेम पूरन घट न सिंधु समाइ।
श्याम गात सरोज आनन ललित गति मृदुहास।
सूर ऐसे दरस कारन मरत लोचन प्यास।

इन पंक्तियों के कहने वाला कवि क्या कभी किसी के इशारे पर नाच सकता है? केवल कृष्ण का इशारा उसके लिए है—और किसी की बातों में ऐसा व्यक्ति आने का नहीं। सूरदास में हम वही हितजी वाली भावना इस प्रकार प्रतिफलित होते देखते हैं।

कृष्ण मुसलमानों की सृष्टि न थे, राम को भी उन्होंने नहीं बनाया था और वैष्णव धर्म के नये उत्थान की प्रस्थानत्रयी

का महान स्तंभ 'भागवत' भी मुसलमान काल से बहुत पहले निर्मित हो चुका था। भक्ति का प्रादुर्भाव वैदिककाल में भी झलकता है। वरुण के सम्बन्ध में लिखी गयी डाक्टर राधाकृष्णन की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

" If Bhakti means faith in a personal God, love for Him, dedication of everything to His service and the attainment of Moksha, of freedom by personal devotion surely we have all these elements in Varuna Worship.

वरुण की व्याख्या करते हुए आगे आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं—

"The theism of the Vaishnava and the Bhagwatas, with its emphasis on bhakti is to be traced to the Vedic Worship of Varunas, with its consciousness of sin and trust in divine forgiveness. Professer Macdonald says that 'Varuna's charactcr resembles that of the divine ruler in a monotheistic belief of an exalted type."

वरुण की यह भक्ति विष्णु में कैसे परिवर्तित हो गयी, यह भी अथर्ववेद के इन मंत्रों से स्पष्ट हो जाता है। इनमें विष्णु और वरुण को साथ साथ रखकर फिर दोनों को एक कर दिया गया है।

ययौ रोज सा स्कभिता रजांसियौ वीर्यैर्वीरतमाश विष्टा यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ७–२५–१

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्रवानति विचचष्ठे शचीभिः । पुरा-देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्व हूतिः ७–२५–२

राधा का जन्म अष्टछाप से पूर्व हो चुका था । जयदेव और विद्यापति की रचनाओं ने राधा को एक अभूतपूर्व रूप दे दिया था । जब तत्वतः सभी सामग्री पहले से उपस्थित थी तब अष्टछाप के कवियों ने अकबरी दरबार के इशारे पर कौनसी घातक रचना रची ? ऐसे भ्रममूलक और निराधार कथनों को हमें प्रश्रय न देना चाहिए । यह उन पूर्व कवियों के साथ अत्याचार है, जो ऐतिहासिक स्थिति के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य देने नहीं आ सकते । हम उनकी श्रृंगारिक रचनाओं को घातक समझते रहें, यह उनकी रचना को अपनी दृष्टि से तौलना है, इसका प्रत्येक को अपनी धारणा के अनुकूल अधिकार है । किन्तु किसी तथ्य को कुछ का कुछ रूप देकर प्रस्तुत करना, और इस प्रकार निराधार गपोड़े के सहारे किसी के प्रति घृणा फैलाने का कार्य अक्षम्य और गर्हित समझा जाना चाहिए ।

अष्टछाप और सूरदास पर अकबरी दरबार के इशारे पर कर्म करने के दोष की कल्पना एक और बात पर आश्रित हो सकती है । सूरदास अकबर के दरबार में गये थे । इसका प्रमाण 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' से भी मिलता है—और इसका अभिप्राय केवल इतना ही हो सकता है जितना महात्मा गांधी का सम्राट जार्ज पंचम से मिलना । क्या वे सम्राट के इशारे पर

अपने कार्य कर रहे हैं ? ऐसा सोचना हमारी युक्तिमत्ता का दिवाला ही सूचित करेगा । सूरदास जी अकबरी दरबार से प्रतिष्ठित रामदास के पुत्र थे अथवा नहीं, यह प्रश्न अभी विचारणीय ही है। इस पर विचार तो फिर कभी किया जायगा। किन्तु इससे भी सूरदास की जिस मनःस्थिति का चित्र ऊपर दिया गया है उससे वे दरबार से प्रभावित होनेवाले कभी नहीं कहे जा सकते । हित हरिवंशजी के पिता भी बहलोल द्वारा सम्मानित थे। उनकी प्रतिष्ठा भी उसके यहां थी, फिर भी हितहरिवंश पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ा। प्रतिभा अपनी रचना के लिए अपने अंदर ही रस प्राप्त करती है। बाह्य जगत अपनी सारी सत्ता के साथ प्रतिभा में पच कर समय, समाज अथवा नीति के प्रभाव से मुक्त होकर अमर और अलौकिक वस्तु बनकर निकलता है। सूरदास और अष्टछाप की रचनाओं में जिन मनोरम भावों और कल्पनाओं का भण्डार है वह मनुष्यों के लिए कभी अहितकर न है, न हो सकता है। भारत के पतन और उसके युवकों को निष्क्रिय और आलसी तथा कायर बनाने वाले कारण कुछ और ही हैं। इस युग की भ्रान्ति से दूषित व्यक्ति उस को समझने और उद्घाटित करने में काँपते हैं। और इसलिए कुछ का कुछ कारण बतलाकर अपने मन को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं।

यश-लोलुपता सब से भारी पाप कराती है। मनुष्य धन के लोभ से कोई असत् आचरण करता है, तो उसका वह असत् आचारण धन के साथ और उसके साथ ही रह जाता है। वह अधिक से अधिक उसके निकटवर्तियों को प्रभावित कर सकता है। किन्तु यश के लिए और वह भी साहित्य में यश प्राप्त करने

के लिए जब कोई असत् आचारण करता है तो जाति, देश और विश्व सब को हानि पहुँचाता है। उसके समान घातक दूसरा नहीं। ब्लैक-होल की घटना को बनाने वाला जितना अपराधी और पापी है, उतना पटना का हत्याकाण्ड करने वाला समूर जर्मन नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य में छद्म और दम्भ अधिक नहीं टिक सकते, किन्तु इतना तो टिक सकते हैं कि वे मिटते-मिटते सन्तति में खूब भर जायँ। हिन्दी के लेखकों को अपने उत्तरदायित्व को समझना चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं और प्रेस के युग में महत्त्वाकांक्षी लेखक किस लिए और क्या लिखता है, इस पर सावधानी से ध्यान देने की आवश्यकता है। लेखों की मांग और लेखक बनने और यश की लिप्सा कितने प्रकार के विज्ञापनों को उत्तेजित नहीं कर रही? एक बार यह कहा गया था कि प्राचीन लेखक रुपये के लालच में राजाओं की खुशामद करने के लिए रचना करते थे, और आज के लेखक अपनी रचनाएँ 'स्वान्तः सुखाय' करते हैं। इस कथन के समान झूठा कथन कौनसा हो सकता है?
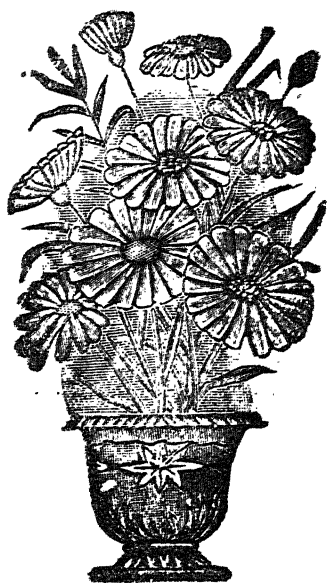
पाँच

'राम में दो तत्वों की संयोजना'

COHESION OF TWO ELEMENTS IN RAMA

राम में दो तत्वों की संयोजना

साकार और निराकर, सान्त और अनन्त-यह विरोध संसार के सम्मुख एक समस्या की तरह सदा रहा है। इनमें वास्तव में कोई अन्तर भी है अथवा नहीं इस प्रश्न पर केवल दार्शनिकों ने ही विचार नहीं किया, वैज्ञानिकों ने भी किया है। Energy और Matter में क्या अन्तर है ? एक दूसरे का ही रूप तो नहीं। प्रत्येक वस्तु की दो दिशायें होती हैं-एक Positive और दूसरा Negative. एक धनात्मक दूसरी ऋणात्मक। इन दोनों के बिना किसी भी वस्तु का रूप पूर्ण नहीं होगा। Negative ऋणात्मक और Positive धनात्मक रूप में वस्तुत: कोई अन्तर नहीं। काले तख्ते की एक उपयोग में आने वाली काली पालिश से युक्त दिशा है; तो दूसरी काम में न आने वाली

उज्ज्वल। दोनों से मिलकर एक बनता है। परमात्मा भी इसी विधि से बनता है। साकार है और निराकार है, सान्त और अनन्त है। इनमें कुछ भेद नहीं—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेमवस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे, जल हिम उपल बिलगु नहिं जैसे॥

जल का रूपान्तर ओला है; भाप का रूपान्तर जल है। किसी ताप के कारण उनके द्रव अथवा निराकार की साकार व्यञ्जना हो जाती है। जल ओले का ऋण रूप है और ओला जल का धन रूप। ब्रह्म अपने नेति रूप में शुद्ध सत्ता का अनुभव करता है, हम उसे तब निरुपाधि कह सकते हैं। वीणा के तारों से उद्मुदित स्वर विशेष शुद्ध, विशेष गतिवान और विशेष स्वतन्त्र है। वह निःसीम है, अनन्त है, पर वह परिमिति की सीमा में रहता है। सान्त के न रहने से अनन्त का क्या होगा, इसकी कल्पना महाकवि भी नहीं कर सकता। वीणा में तार न रहने से–अथवा आकाश में गति न रहने से स्वर कहाँ सुन सकेंगे? वह संगीत कहाँ मिल सकेगा! सान्त में आकर अनन्त-ब्रह्म का नेति रूप व्यक्त होता है। व्यक्त के न होने से अव्यक्त का हम नाम तक नहीं रख सकते, यद्यपि व्यक्त सत्ता, परिमिति शून्य ही नहीं सभी उपाधियों से रहित होने के कारण, शुद्ध कही जा सकती है। ज्ञानवादी इसी शुद्ध ब्रह्म की उपासना करते हैं, और इसी कारण वे उसकी कोई धनात्मक परिभाषा सम्भव नहीं बतलाते। पर जल का जैसे धन-रूप सम्भव है, वैसे ही निराकार का साकार रूप सम्भव है। बिना दोनों के उसका रूप पूरा नहीं। उसका

ज्ञान पूरा नहीं। ब्रह्म-ज्ञान का विषय इन्हीं विषमान्वयों का सुन्दर संग्रह है। ईशोपनिषद् बतलाता है:—

वह चलता है, वह चलता नहीं है।
वह पास है, वह दूर है।
वह प्रकाश है, वह अन्धकार है।
वह अमृत है, वह मृत है।

गीता के श्लोक भी पठनीय है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
असक्तं सर्व भृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ *

तुलसीदास जी इसी विषमान्वय (Contradiction) को इस रूप में रखते है—

बिनुपद-वह चलता है, वह नहीं चलता (उसके पैर नहीं)।

सुनैं बिनु काना-वह सुनता है वह नहीं सुनता (उसके कान नहीं)।

कर बिनु कर्म करै-वह कर्म करता है, वह कर्म नहीं करता (उसके हाथ नहीं)।

आनन रहित सकल रस भोगी-वह रसास्वाद करता है, वह रसास्वाद नहीं करता (उसके मुख नहीं)।

बिनु बानी बकता-वह बोलता है, वह बोलता नहीं (उसके बाणी नहीं)।

---

* गीता अ० १३ श्लो० १२, १३, और १४,

तन बिनु परस—वह स्पर्श करता है, वह स्पर्श नहीं करता (उसके तन नहीं) ।

नयन बिनु देखा—वह देखता है, वह नहीं देखता (उसके नेत्र नहीं) ।

गहइ घ्राणेन्द्रिय बास—वह सूँघता है, वह सूँघता नहीं (उसके घ्राणेन्द्रिय नहीं) ।

फिर भी नेति रूप को प्रधानता दी जाती है । इसीलिए तुलसीदासजी अपने राम के सम्बन्ध में शिवजी से कहलाते हैं—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी,
प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ।
जथा गगन घन पटल निहारी,
झाँपेउ भानु कहहिं कुविचारी ।
चितव जो लोचन अँगुलि लाये,
प्रगट जुगुल ससि तेहि के भाये ।
उमा ! राम बिषयक अस मोहा,
नभ - तम धूम - धूरि जिम सोहा ।

विकारों के द्वारा जाना जाता हुआ भी विकारों का नहीं । विकार केवल हमारी स्थूल-दृष्टि को रोकते हैं । घन-पटल हमारी दृष्टि को रोकते हैं, सूर्य को न छिपाते हैं, न छिपा सकते है । अस्त और उदय सूर्य के गुण नहीं, वह अबाध गति से निरन्तर प्रकाशमान है । ये शब्द तो हमारी अपेक्षा के लिए बनाये गये हैं । इसे दोष कहिये, मोह कहिये, विकार कहिये, पर यह भी एक सत्य है । उदय एक सत्य है, अस्त दूसरा । एक सत्य सूर्य का सदा प्रकाशमान रहना है, दूसरा उसका झँप जाना । बिना इन सब के सूर्य का रूप कुछ नहीं ।

इन धन और ऋण के विषमान्वयों का समीकरण तुलसीदास ने रामावतार के द्वारा किया है। विकार ही ग्रहण-योग्यता है, उसकी भित्ति मनुष्य-ज्ञान की परिधि के लिए आवश्यक है, पर इसी को सब कुछ न समझ लिया जाय, इसलिए सूर्य की झलक यदाकदा दिखाते रहना कितना आवश्यक है! किसी के जन्म-समय से ही सृष्टि घनाच्छादित रहे और उसके आजीवन उसी रूप में बनी रहे तो सूर्य के सम्बन्ध में उसकी क्या धारणा होगी? इसी मनोवृत्ति से सावन के अन्धे को सदा हरा सूझता है—दूसरा रूप फिर उसे दीखता नहीं। अतः स्मृति को जागृत रखने के लिये वस्तु की वास्तविकता का भी पाठ पढ़ाते रहना चाहिये—विशेषकर ऐसे स्थलों पर जहाँ कि विशेष भ्रम में पड़ जाने की सम्भावना हो। तुलसीदास के राम-चरित्र में यही मनोवृत्ति ठीक रूप में चरितार्थ है। इसी सिद्धान्त को लेकर तुलसीदासजी ने उन स्थलों पर जहाँ—

या तो (१) राम का प्रभाव प्रकट करना किसी कारणवश आवश्यक है या (२) उनका चरित्र अत्यन्त मानवीय हो गया है या तो (१ में) किसी पात्र के मुख से अथवा अपनी ओर से (२ में), यह बतलाना उचित ही समझा कि............

भगत, भूमि भूसुर सुरभि। सुरहित लागि कृपाल ॥
करत चरित धरि मनुज तन............ ,

अंगरेजी कवि Browning ने Grammarian's Funeral नामक काव्य लिखा। वह छोटी सी कविता है। शववाहक वैयाकरण के गुणों का वर्णन करते हुए शव को

श्मशान की ओर ले जा रहे हैं। कहीं Grammarian की प्रशस्ति-गीतिका पाठकों को इतना अभिभूत न करले कि उनको यह विस्मृत हो जाय कि शव श्मशान की ओर जा रहा है, अतः बीच बीच में Browning ने कई स्थानों पर अनायास शववाहकों की गति विधि का उल्लेख कर दिया है। और यह ठीक ही है। इससे कला में कोई विक्षेप नहीं पड़ता। तुलसीदास जी ने भी कुछ ऐसे ही सिद्धान्त से काम लिया है।

मानव-चरित्र में ईश्वर-चरित्र की संयोजना दिखाना वे आवश्यक समझते थे। कहीं एक के कारण दूसरा आच्छादित न हो जाय—उनका मन्तव्य सदा यही रहा।

मानव-चरित्र में ईश्वरत्व की उचित संयोजना सरल नहीं। ईश्वरत्व और मनुष्यत्व दोनों ही उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव की वस्तुऐं हैं। एक आकाश—दूसरा पाताल—दिन और रात की तरह दोनों की सुन्दर सन्धि रामचरित-मानस में है। कहाँ विकार शून्य अनन्त ईश्वरत्व, कहाँ मानवीय दुर्बलताओं से आक्रान्त सान्त मनुष्यत्व! दोनों की सुन्दर मंत्रणा राम के चरित्र में है। यहाँ वीणा का तार भी है और स्वर भी।

संसार में प्रतिभाशाली कवियों की जितनी कोटियाँ हैं, उनमें से दो मुख्य हैं। एक वह जिसमें कवि का मानसिक विकास-मात्र प्रतिभा की कोटि तक पहुँचा हो। ऐसे कवियों में शेक्सपियर विहारी आदि गण्य हैं। इनकी कृति में सब कुछ होता है, कला के लिये जितना आवश्यक है उतना सब होता है, पर सामग्री

रूप में ही। उसकी कलात्मक व्यवस्था इन मानसिक प्रतिभाओं में नहीं दीखती। इनकी ऊंची से ऊंची कला की कृति भी वह पवित्र मनोरञ्जन नहीं दे सकती। उसके मनोरञ्जन में कहीं पर दाह रहता है, वह बूरे में किसकिसाहट की तरह एक बार उस अक्षुण्ण माधुर्य्य में हलकी किरकिरी पैदा कर देता है।

दूसरी कोटि में वह कवि हैं जिनका मानसिक-विकास और चरित्र-विकास दोनों ही प्रतिभा कोटि के होते हैं। सोने में सुगन्ध मिल जाती है। यह नहीं कि वह उपयोगिता की ओर बढ़ जाती है, वरन् उसका क्षेत्र अगाध और विस्तृत हो जाता है। उनकी कृति में कलात्मक व्यवस्था पूर्ण दिखाई पड़ती है। उसमें मनोरञ्जन चाहे जिस रूप में उपस्थित होकर विषय-व्यापार की ओर विशृंखलित भाव से मनुष्य के मस्तिष्क को नहीं आकर्षित करता, वरन् एक दिव्यता और सौम्यता से गम्भीर रूप में व्यवस्थित रहता है। यह आनन्द अनिर्वचनीय होता है, इसमें किसी भी कोने में दाह दफ़न नहीं रहता। यहाँ कला की सामग्री भी है और कलात्मक व्यवस्था भी। पहले की अपेक्षा इस प्रतिभा से पूर्ण कृतियाँ वास्तविक अर्थ में विश्व की विभूति होती हैं, कुछ साहित्यिकों की ही नहीं, कुछ कलावादियों की ही नहीं। यह प्रतिभा अवश्य ही निसर्ग-नियमानुगत शिव-सन्देश से समुत्फुल्ल रहती है, धर्म और नैतिकता के सुन्दरतम सिद्धान्त को पचाये होती है। मिल्टन और तुलसीदास इसी कोटि के कलाकार हैं। इसी कला की कूँचियों से सत्य-शिव राम के चरित्र-चित्र की रेखायें खींची गयी हैं, उनमें कला भी है, कला की व्यवस्था भी।

राम मनुष्य भी हैं और ईश्वर भी। अनन्त ने सान्त रूप किया है। उसकी अनन्त सत्ता सान्त के नियमों से बाँधी गई है। ऐसी दशा में क्या आशा करनी चाहिये ? यह तो प्रश्न ही दूसरा है कि राम में ईश्वरत्व स्थापन करना औचित्य की सीमा में है अथवा नहीं ? एक कलाकार को कला की दृष्टि से ऐसा करना चाहिये था अथवा नहीं ? जिस प्रतिभा ने रामचरित-मानस को अवतीर्ण किया वह प्रतिभा इस विश्व को एकांगी नहीं दिखा सकती थी। अखिल विश्व का समष्टि रूप भाव और अभाव के संयोग से ही ग्रहण किया जाने योग्य है, इस लिए राम में मनुष्यत्व और ईश्वरत्व दोनों का समावेश उस व्याप्त-उदार प्रतिभा को करना पड़ा—यह विषय ही प्रथक है। पर ऐसा होने पर हम क्या आशा करेंगे ? मनुष्यत्व की और ईश्वरत्व की रक्षा कैसे होगी और फिर कला की रक्षा कैसे हो सकेगी ?

अनन्तत्व एक भारी तत्व है। सान्त की व्याख्या ही अनन्तत्व में है। तब यदि अनन्तत्व अथवा ईश्वरत्व का संयोग मनुष्यत्व अथवा सान्तत्व से करने पर कहीं अनन्तत्व का पलड़ा भारी दीख पड़े तो यह क्या अस्वाभाविक होगा, कदाचित नहीं। पर कलाकार व्याख्या करने बैठा है—उसने राम के रूप में आदर्श मनुष्य की व्याख्या की है—अतः मानव-विकास भी पूरी तरह स्वाभाविक नियमों में बंधा दीखता है। हमें यही देखना है।

सान्त में होते हुए अनन्त की दो क्रियाएं स्वयं हो सकती हैं। कभी मानवीयत्व का अधिक जोर और कभी अनन्तत्व का अधिक जोर। मानवीयता की दशा में अनन्त अपनी शक्ति

और सत्ता को विस्मृत भर कर देता है—उसे खो नहीं वैठता, उस दशा में उसमें अनन्तत्व की भी कहीं झलक केवल दिव्य दृष्टि-धारी ही देख सकते हैं ।

दूसरी स्थिति वह हो सकती है जहां मानवीयता भी अपने अधिकार में चैतन्य हो, और अनन्तत्व भी अर्द्ध विस्मृत दशामें हो । ऐसी स्थिति में कार्य मानवीय होंगे परन्तु उनमें शक्ति और तेज दैवी जैसा प्रकट होगा । उस समय उनके मुख की शान्ति ही साधारण जन को उनकी असाधारणता की सूचना देगी, उनके अनन्तत्व का ज्ञान उनके हृदय में प्रेरित कर देगी ।

तीसरी स्थिति वह हो सकती है जब मानवीयता विस्मृत हो जाय और अनन्तत्व ही जागृत दिखाई पड़े ।

राम में इन तीनों दशाओं का स्पष्ट आभास दिखाई पड़ता है, और वह अनुकूल अवसरों पर । स्वाभाविक ढंग से हम यह विचार करें कि, कैसे स्थलों पर उपरोक्त प्रकार में से किस प्रकार का चरित्र दीख पड़ेगा ?

उदाहरणार्थ हम ऐसे व्यक्ति को ले सकते हैं जो अध्यापक है, और उसका भाई उसी के विद्यालय में विद्यार्थी । अव उसके विद्यार्थी के साथ दो सम्वन्ध हैं । घरेलू और स्कूली । अव स्कूल के वच्चों के सामने वह अपने भाई से शिष्य की तरह वरतेगा । स्कूल में अकेले में भी वह भाई से भाई की तरह वात कर सकेगा अथवा घरेलू आवश्यकता आ पड़ने पर वह स्कूल में भाई की तरह वरतेगा, अथवा उसे संकटापन्न देख कर वह अपने घरेलू सम्बन्ध को दिखायेगा ।

राम को अवतार ग्रहण करने पर तीन प्रकार के अपने सम्बन्धी मिले—

१—वह जो अपना पुत्र समझते थे, अपना सम्बन्धी समझते थे। वे उन्हें सान्त में ही देखना चाहते थे, अन्य किसी रूप का ज्ञान उनके जीवन को भारमय बना सकता था। इसी लिए दशरथ जी ने भगवान से यही याचना की थी :—

सुत विषयक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ॥

हम स्पष्ट देखते हैं कि ऐसे स्थानों पर राम केवल मानवीय हैं। यहां अनन्तत्व उन्हें विस्मृत रहता है। दशरथ के चरित्र का अंकन इसी प्रतिबंध की सीमा में किया है। उनसे जाननेवाले ज्ञानी कहते हैं राम ब्रह्म है, वह सच्चिदानन्द है। परन्तु वरदान के कारण उस पर विश्वास करके उसके अनुकूल अपना आचरण नहीं कर सकते। वे कहते तो हैं:—

सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं।
राम चराचर नायक अहहीं॥

यहाँ पर पितृभाव दशरथ में प्रवल है। वे रामचन्द्र जी का चराचर नायक होना, दूसरों के कहने पर भले ही मान लें, परन्तु यह ज्ञान विश्वास का कोटि का नहीं। केवल मन की उस स्थिति की सूचना देता है, जब कि मनुष्य अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए, जिस बात पर वह बिश्वास नहीं करता, उसे भी मान लेता है। दशरथ के हृदय में कैसी मर्मात्मक पीड़ा है, उस पीड़ा

की जलन तब और भी तीव्र हो उठती है जब वे रामके विछोह का कारण सोचने लगते हैं; उनके हृदय में बड़ी तीव्रता से एक प्रश्न उठता है ।

'और करै अपराध कोउ' और पाव फल भोगु ।

इस रहस्य का उद्घाटन राम ही क्यों न कर दें । सम्भव है इस प्रश्न के उत्तर में ही राम रह जायँ । भाई तुम्हें तो सब चराचर-नायक कहते हैं, और यह सुनते आये हैं कि चराचर नायक (ईश) 'देइ फलु हृदय विचारी' । तो हृदय में विचारो भाई, 'करै जो करम पाव फल सोई' न्याय करो । मेरे कर्मों के कारण तुम क्यों बन जाते हो ? इन शब्दों में तुलसीदास जी ने बड़ी भारी व्यञ्जना से काम लिया है । दशरथ जी की दयनीय दशा, उनकी मन की व्यथा और जीवन की एक महत्तम समस्या, सभी प्रत्यक्ष हैं । दशरथ जी यह विश्वास नहीं करते कि राम चराचर नायक हैं तभी उन्होंने 'मुनि कहहीं' शब्दों का प्रयोग किया है। और क्यों ऐसा किया है इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है । यह वह स्थिति है जब कि दशरथ जी में पितृत्व की अधिक मात्रा है, जबकि वात्सल्यको हृदय में असह्य व्यथा से दावे हुए हैं—इस स्थिति में राम के ब्रह्मत्व में कभी विश्वास हो ही नहीं सकता । दशरथ जी के वाक्य राम के प्रति नितान्त स्वाभाविक हैं । उन्होंने राम को मानवीय ही माना है, देवत्व का आक्षेप वस्तुतः नहीं है। पर यह नहीं कि दशरथ जी ने कभी राम के देव रूप का ज्ञान जाना ही न हो । जब रामचन्द्र जी के पैदा होने का संवाद दशरथ जी को मिला तो उनके हृदय में एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रेरणा की तरह यह ज्ञान उदित हुआ कि—

जाकर नाम सुनत सुभ होई।
मोरे गृह आवा प्रभु सोई ॥

यह ज्ञान क्षण भर के लिये हुआ और पानी के बुदबुदे की भाँति सदा के लिये विला गया। दशरथ जी में पुत्र-प्रेम होने के समय पितृत्व का आरम्भ भर ही था। वह दो अवस्थाओं की संधि थी, इसीलिए पूर्वज्ञान की संचित स्मृति में प्रकाश की क्षीण रेखा की तरह यह भाव चमका और विलीन हो गया, फिर पितृत्व ही प्रधान रहा और वरदान काम करता रहा। दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त अपने किये हुए कर्म को विस्मृत कर बैठा, फिर यह तो दशरथ में हलकी-सी प्रेरणा थी, यह शीघ्र ही विलुप्त हो गयी तो आश्चर्य नहीं, ऐसा नितान्त स्वाभाविक ही है। दशरथ के मानसिक क्षेत्र में राम का यह विकास कितना स्वाभाविक है।

२—वे पुरुष जिनसे राम अर्द्ध घनिष्ठ हैं। वे उनमें अनन्तत्व देखते हैं, उसमें विश्वास भी रखते हैं, परन्तु मानवीयता की विशेष जागृति होने के कारण वे उस रूप के अनुकूल क्रिया करने में हिचकते हैं। जनकपुरी के लोगों के सामने राम ऐसे ही हैं। सीता से अनन्त सम्बंध होने के कारण उनका अनन्तत्व जागृत होता है, और सब उसके आतंक को मानते हैं, परन्तु धनुष टूट जाने का काम समाप्त हो जाने पर धीरे धीरे वह अनन्तत्व लुप्त हो जाता है और मनुष्य चकरा जाते हैं। इसीलिए कभी राम को ब्रह्म समझ कर वे जनक की तरह कहने लगते हैं, 'व्यापक ब्रह्म अलखु अबिनासी'। स्त्रियाँ अधिक अस्थिर प्रकृति वाली होती हैं। एक प्रभाव में आकर वे एक बात कहती हैं और शीघ्र दूसरे प्रभाव में पड़कर कुछ और कहने लगती हैं। उनको

(ficklemindness) 'अधर बुद्धि' में जागृति और सुषुप्ति दशा की राम सम्बन्धी प्रतिक्रिया तुलसीदास जी ने कितनी अच्छी प्रकार दिखलाई है ।

वे प्रेमावेश में राम की खुशामद-सी करती हुई,

... .जोरि कर पुनि पुनि कहइ ।
बलि जाउँ तात सुजान तुम कहँ, विदित गति सबकी अहइ ॥
परिवार पुरजन मोहि राजहि, प्रानप्रिय सिय जानिबी ।
तुलसी सुसील सनेह लखि, निज किंकरी करि मानबी ॥

× × ×

तुम परिपूरन काम, जानि सिरोमन भाव प्रिय ।
जन गुन गाहक राम, दोष दलन करुनायतन ॥

× × ×

अस कहि रही चरन गहि रानी ।
प्रेम पंक जनु गिरा समानी ॥

तुलसी दास जी ने राम की प्रशंसा जिन शब्दों में सासुओं के द्वारा करायी है वह श्लाघनीय है । 'तुम कहँ बिदित गति सबकी अहइ' 'तुम परि पूरन काम' 'जानि सिरोमनि' 'भाव प्रिय' 'जन गुन गाहक' 'दोष दलन' 'करुनायतन' ।

ये शब्द निश्चय रूप से राम का ब्रह्मत्व प्रतिपादन नहीं करते, केवल उसकी ध्वनि भर देते हैं । जैसे सन्दिग्ध अवस्था में मनुष्य हलके विशेषणों से काम लेता है, उसी प्रकार सीता की माता ने राम के लिए वही विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जो बहुत ही

हलके हैं, और जो ब्रह्मत्व सम्बन्धी किसी निश्चय की सूचना नहीं देते। यह शब्द अत्यन्त प्रेमार्द्र सासु अपने किसी भी रामचन्द्र जी जैसे प्रभावशाली चक्रवर्ती राजा के पुत्र जामातृ से कह सकती हैं, और तब ये शब्द किसी प्रकार का ब्रहत्व प्रतिपादन नहीं कर सकते। रामचन्द्र जी के पैरों में गिरना आर्द्रता की पराकाष्ठा है; यह नहीं कि ब्रह्मत्व की प्रबल ज्ञान सम्पन्नता के कारण हो। जनक जी जानते हैं कि राम ब्रह्म हैं, और शिव धनुष तोड़ने पर उन्हें वास्तव में पूर्ण विश्वास होजाता है। वे अपनी रानियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान हैं—उन्होंने जो शब्द राम के लिये कहे हैं, उनसे रानियों के वचनों की तुलना की जाय तो विदित हो जायगा कि रामचन्द्र जी के ब्रह्मत्व के सम्बन्ध में उनके मस्तिष्क में निश्चय की बहुत कमी थी। इसी कारण वे राम को निश्चय ही ब्रह्मत्व-बोधक विशेषणों के द्वारा सम्बोधन नहीं कर सकीं।

इसी जागृत-अनन्तत्व और सुपुप्त-अनन्तत्व का परिचय सीय-स्वयंवर में भी दिखाई पड़ता है।

स्वयंवर में सभी प्रकार के राजा एकत्र हुए हैं, इसे तुलसीदास जी ने बहुत ही भली प्रकार बताया है। उन्होंने उपस्थित समाज को भले और बुरे राजाओं में बांट दिया है। भले राजा शीघ्र ही राम को पहचान लेते हैं और कहते हैं—

जगत पिता रघुपतिहिं बिचारी,
भरि लोचन छवि लेहु निहारी।

वहीं मूढ़ राजा यह भी कहते हैं—

एक बार कालहु किन होऊ,
सिय हित समर जितब हम सोऊ।

यदि यहां रामचन्द्र जी का अनन्तत्वपूर्ण उद्भाषित होता तो सम्भव है राम का आतंक मूढ़ राजाओं पर भी छा जाता, पर वह यहां अर्द्ध जागृत अवस्था में है, उसमें पूर्ण निश्चयात्मकता नहीं। यदि और गम्भीरता से विचारा जाय तो यह स्पष्ट परिलक्षित हो जायगा कि इन राजाओं को यह भान कैसे हो गया और कथा के प्रवाह का ध्यान रक्खा जाय तो यह भी विदित हो जायगा कि क्यों इन राजाओं के द्वारा राम की पूजा-अर्चना कराके शिथिलता नहीं लाई गई। केवल शब्दों में ही सब कुछ व्यक्त कर दिया है। फिर तुलसीदास जी की Ethical theory में भक्तों की श्रेणियां बनी हुई हैं। राजा की भक्ति सब में होती है। सभी उनके चरण भी छूना चाहें तो क्या कहीं कभी ऐसा देखा गया है कि सब को अवसर मिला हो। अतः बहुत से देखकर ही सन्तुष्ट रहते हैं। अत्यन्त निकट के व्यक्तियों को वह सौभाग्य भी प्राप्त हो जाता है, और तुलसीदास के सिद्धान्त से सभी राम के चरण छूने के भागी नहीं, अतः उनमें अपनी कोटि की ही उत्सुकता पैदा होती है। फिर मूढ़ों में तो वह भी नहीं होती।

मूरख हृदय न चेत,
जो गुरु मिलहिं विरंचि सम,
फूलहि फलहि न बेत,
जदपि सुधा बरसहिं जलद।

राम का अनन्तत्व अस्फुट था, और साथ ही राजा मूढ़ थे, अतः तुलसीदास जी ने दिखलाया कि उन राजाओं पर भले राजाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

३—वह पुरुष जो उनके अपने हैं। उनके सामने राम अपना रूप खोल कर रख देते हैं। उनके सामने वे मनुष्य की तरह नहीं, ब्रह्म की तरह बोलते हैं, उन्हें अपना धाम देते हैं। ऐसे लोग हैं 'अनन्य भक्त'।

अनन्त और सान्त का संयोजन इन्हीं तीन सीमाओं के भीतर होने से स्वाभाविकता के घेरे में रह सकता है, अन्यथा रूप अस्वाभाविक और अकलात्मक हो जायगा।

बालकाण्ड में राम में अनन्तत्व अर्द्ध-जागृत दशा में है और मानवीयता जागृत दशा में मिलती है। इस काण्ड में राम अपनी माता, कर्मकाण्डी ज्ञानियों और जनकपुर में रहता हैं।

अयोध्या काण्ड में राम का अनन्तत्व अधिकाँश विस्मृत है। यहाँ वे अधिकांश माता-पिता-परिजनों के मध्य में हैं।

अरण्य काण्ड में राम भक्तों के बीच में और अकेले अपने जनों में हैं। इस काण्ड में उनका अनन्तत्व विशेष जागृत है। ऐसा क्यों है, इसका उत्तर तो स्वतः राम ने अरण्यकाण्ड में नारदजी को दिया है:—

जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ।
जन सन कबहुँ कि करौं दुराई॥

अयोध्या काण्ड में रामचन्द्रजी जब अयोध्या को—अपने कुटुम्बियों और प्रजा को—छोड़ कर चलते हैं तो जो घनिष्ठता उनके ऊपर अपना पर्दा डाले हुए थी, उनके अनन्तत्व को एक सीमा में बांधे हुए थी, वह अब उतनी नहीं रही। फिर भी अभी संकोच शेष है। भारद्वाज मुनि उन्हें पहचानते हैं।

वे ज्ञानी अधिक हैं, भक्त उतनी कोटि के नहीं। अतः वे राम की प्रशंसा कर सकते हैं, उनमें आनन्द विभोर नहीं हो सकते। भक्त को कुछ ज्ञान नहीं रहता। जब वह ज्ञान की सहायता से भक्ति का निखरा रूप प्राप्त कर लेता है—तब उसका अन्य ज्ञान विस्मृत हो जाता है, यदि स्मृत रहता है तो केवल दैन्य। अरण्यकाण्ड का सुतीक्ष्ण उसी कोटि का भक्त है वह कहता है—

जे जानहिं ते जानहु स्वामी, सगुन अगुन उर अंतरजामी।
जो कोशल पति राजिव नैना, करउ सो राम हृदय मम ऐना।

वह सब भूल गया है, उसी की अनन्य तन्मयता का चित्र तुलसीदासजी ने खींच कर अमर कर दिया है—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी, कहि न जाइ सो दसा भवानी।
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा, को मैं चलेउं कहाँ नहिं बूझा।
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई, कबहुँक नृत्य करइ मुनि गाई।

अतः भरद्वाज जी अब रामचन्द्रजी से कहते हैं :—

करम वचन मन छांड़ि छलु, जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार॥

× × × ×

सुनि मुनि बचन राम सकुचाने –

वह संकोच से दबे हुए, अपना हृदय मुनि के समक्ष न खोल सके और शिष्ट भाषा में, अपने अनन्तत्व को छिपाते हुए कहाः —

सो बड़ सो सब गुन गन-गेहू, जेहि मुनीस तुम्ह आदर दे ।

यह कोरा शिष्टाचार है, इन्हीं राम को जरा सुतीक्ष्ण के सामने देखिये। उनका वह संकोच बिल्कुल दूर हो गया है। भला ऐसे भक्त के सम्मुख, केवल वचन से, केवल भाव से भक्त रहने वाले के सम्मुख नहीं, वरन् मन-कर्म-वचन सब से अपना भक्त हो जानेवाले सुतीक्ष्ण के सामने उनकी यह संकोचशीलता कहाँ रहती है। ध्यानावस्थित मुनि को राम जगा रहे हैं—

मुनहिं राम बहु भांति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥

तब—

भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप दिखावा॥

उन मुनि जी से राम अपने आप कहने लगते हैं:—

परम प्रसन्न जान मुनि मोही। जो वर मांगेहु देउँ सो तोही॥

यहाँ वह संकोच नहीं, वह क्षोभ नहीं।

वाल्मीकि जी से मिलते समय भी वही संकोच उपस्थित है। वाल्मीकि जी रामचन्द्र जी को पहचानते हैं, वे भारद्वाज जी से कहीं अधिक स्पष्ट शब्दों में कहते हैं:—

श्रुति सेतु पालक राम तुम,
जगदीस माया जानकी।

× × ×

'राम सरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर'

× × ×

जग पेखन तुम देखन हारे। विधि-हरि-संभु नचावन हारे॥

वे तो बिलकुल पर्दा ही फाड़ देते हैं:—

नर तनु धरेउ संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥

कैसा दार्शनिक उत्तर वाल्मीकि जी देते हैं:—

पूछेहु मोहि कि रहउँ कहँ, मैं पूँछत सकचाहुँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ।

परन्तु इस भारी ज्ञान पूर्ण प्रशंसा का राम पर क्या प्रभाव पड़ता है—

सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने, सकुचि राम मन महँ मुसकाने।

—और बस। वह स्वतंत्र-भाव, वह छूट पट्टी जिसके साथ रामचन्द्रजी, सुतीक्ष्ण से, अन्त में जटायु से, एकान्त में नारदजी से, कबन्ध से, बालि से मिले हैं; यहां कहां हैं?

तुलसीदासजी के (Ethical) आचार विश्वासों में यदि देखा जाय तौ भी इसका कारण मिल सकता है। जितने भी वैदिक व्यक्ति हैं, वेद की मर्यादा के अनुकूल चलने वाले हैं, उनके समक्ष रामचन्द्रजी ने अपना संकोच ही प्रकट किया है, उनके सम्मुख वे अत्यन्त ही विनयावनत रहे हैं। विश्वामित्र. वशिष्ठ, भरद्वाज, वाल्मीकि. और अत्रि से राम की भेंट का वर्णन पढ़जाइये। ये ऋषि लोग जानते हैं कि राम कौन हैं, परन्तु राम उनके समक्ष अपना बड़प्पन नहीं दिखा सकते, आखिर राम ही तो श्रुति—सेतु—पालक हैं। वे मर्यादा का उल्लंघन कैसे कर सकते हैं।

अत्रि से वे कहते हैं:—

संतत मोपर कृपा करेहू, सेवक जानि तजेहु जनि नेहू।

रामचन्द्रजी उन्हीं अत्रि से कह रहे हैं जो राम की स्तुति करते हुए कहते हैं:—

त्वमेकमद्भुतं प्रभुं, निरीहमीश्वरं विभुम्।
जगद्गुरुं च शाश्वतं, तुरीय मेव केवलम्।
भजामि भाव वल्लभम्, कुयोगिनं सुदुर्लभम्।
स्व-भक्त–कल्प–पादपं, समं सुसेव्यमन्वहम्।

ऐसे अत्रि से राम कहते हैं, मैं सेवक हूँ मुझ पर स्नेह करते रहियेगा।

इन लोगों से उनका ऐसा व्यवहार क्यों है? क्यों विश्वामित्रजी ने भी राम से मानवोचित व्यवहार किया है? इसका उत्तर एक और स्थान से मिल सकता है। वह है पार्वती मंगल में नारदजी और पार्वती की भेंट। वहां तुलसीदासजी ने अपने (Ethical) सिद्धान्त को और भी स्पष्ट कर दिया है।

नारदजी जानते हैं पार्वती जग माता हैं। अतः जब उमा को बुला कर, हिमाचल और मैना ने, नारदजी के चरणों में डाल दिया तो,

मुनि मन कीन्ह प्रनाम, वचन आसिष दई।

मन से प्रणाम किया, और प्रकट बचनों द्वारा उमा को आशीर्वाद दिया। पार्वती स्वतः अपने रूप में ही जगत्माता थीं। वे उसी रूप में शिव की अर्द्धांगिनी हुई, उन्होंने मानवी रूप धारण लीला के हेतु नहीं किया था, फिर भी लोकाचार की रक्षा के लिये नारदजी ने उन्हें आशीर्वाद ही दिया और इस प्रकार भेंट की मानो उस तथ्य से अपरिचित हैं। फिर

रामचन्द्रजी के साथ मुनि लोग, वैदिक ऋषि ऐसा ही व्यवहार क्यों न करते। वहां तो वे 'प्राकृत राजा' होकर कार्य कर रहे थे। वाल्मीकि जी ने स्पष्ट ही कर दिया कि आप ठीक ही कहते हैं—'जस काछिय तस चाहिए नाचा।' परन्तु इस (Ethical) व्याख्या के अतिरिक्त भी रामचन्द्रजी और मुनियों के शिष्टाचारपूर्ण व्यवहार का उत्तर मिल सकता है। और वह स्वाभाविक विकास के सहारे। केवल यह देख लेना आवश्यक है कि राम किस स्थिति में, किस पुरुष से, कहां मिल रहे हैं ? उनका अनन्तत्व किस अवस्था में है? अयोध्याकाण्ड में वे अपने कुटुम्बियों से घिरे हुए हैं, और अरण्यकाड के आरम्भ तक, अत्रि और अनुसुइया से मिलने तक उनका अनन्तत्व अपूर्ण प्रस्फुटित हो चुका है। अत्रि और अनुसुइया चित्रकूट के पास ही रहते थे, उनकी कुटुम्बियों से गहरी भेंट थी, उनमें भी कुछ कुटुम्बत्व आगया है, तभी अनुसुइया ने सीता को उपदेश दिया है। उनके समक्ष राम कुछ व्यक्त नहीं करते, यद्यपि वे (अत्रि) सब कुछ जानते हैं, क्योंकि अब उनका अनन्तत्व पूर्ण प्रस्फुटित होने की अवस्था में आ पहुँचा है, इसलिए वशिठ, विश्वामित्र, भारद्वाज, वाल्मीकि आदि की अपेक्षा अत्रि ने राम की अधिक अभ्यर्थना की है।

राम ने जब कहा कि मुनिवर मुझ पर स्नेह रहे तो अत्रि कहते हैं:—

जासु कृपा अज सिव सनकादी।
चहव सकल परमारथ वादी॥
ते तुम्ह राम अ-काम पियारे।

दीन बन्धु मृदु बचन उचारे ॥
अब जानी में श्री चतुराई ।
भजिय तुम्हहि सब देव बिहाई ॥
जेहि समान अतिसय नहिं कोई ।
ताकर सील कस न अस होई ॥
केहि विधि कहउँ जाहु अब स्वामी ।
कहहु नाथ तुम्ह अन्तर जामी ॥
अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा ।
लोचन जल बह पुलक सरीरा ॥

मुनि की ऐसी दशा होगई:—

तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन,
नयन मुख पंकज दिये ।

इस प्रकार हम मुनियों और रामचन्द्र जी के पारस्परिक व्यवहार को देख कर जान सकते हैं कि किस प्रकार रामचन्द्र जी के मानवी और दैवी चरित्र का विकास हुआ हैं ।

रामचन्द्र जी के चरित्र निर्माण में जिन तत्वों को काम में लाया गया है उनका संक्षेप हम यहाँ कर सकते हैं:—

१—अनन्तत्व और २—मनुष्यत्व

अनन्तत्व, मनुष्यत्व की सीमा से बंधा हुआ है । गृह-कुटुम्ब और अपनी पुरी में उनका मानवी रूप प्रधान है । यहाँ पर ऋषि वशिष्ठ बिश्वामित्र आदि राम को जानते हैं पर शिष्टाचार और लोकाचार के विरुद्ध नहीं जा सकते । ये वैदिक ऋषि यह भी जानते हैं कि 'रामचन्द्र जी 'जस काछिय तस चाहिये नाचा'. के सिद्धाँत पर चलेंगे ।

दशरथ जी के समक्ष राम सदा पुत्र-रूप में हैं, वे वरदान के आधीन हैं।

माता कौशिल्या से, कभी कभी अपना चमत्कृत रूप दिखा कर विनोद कर लेते हैं, पर माता आग्रह से राम को शिशु-भाव से देखना चाहती है।

अयोध्या से बाहर परन्तु निकट-क्षेत्रों में जाने पर उनकी मानवीयता तो पूर्ण रहती है, परन्तु अनन्तत्व की आभा कुछ विशेष प्रोद्भावित होने लगती है। इससे अधिक चैतन्य व्यक्ति उन्हें पहचान लेते हैं, कुछ कम चैतन्य द्विविधा में रहते हैं। उनका व्यवहार कभी भक्ति-पूर्ण होता है, कभी केवल लौकिक।

वनवास होजाने पर राम की मानवीयता से अनन्तत्व अधिक प्रस्फुट है। अब वे लौकिक गृह-कुटुम्ब से बंधे नहीं, वरन् अपने Mission पर चल पड़े हैं। वन में वे अपने भक्तों से मिलते हैं, उन पर अपना रूप भी प्रकट करते हैं।

यहाँ पर भी वे ऋषियों, ज्ञानी ऋषियों और वैदिक ऋषियों से उसी मर्यादा और संकोच से मिलते हैं। वे उन्हें स्वतः जानते हैं, राम उनपर अपने आप को व्यक्त नहीं करते।

अत्रि से मिलने के पश्चात् फिर राम को कोई वैदिक मुनि नहीं मिलता, अतः हमको ऐसे बहुत अवसर मिलते हैं जहाँ राम अपना रूप प्रकट करते, अपना धाम देते, अपनी कृपा ब्रह्मत्व के रूप में निस्संकोच प्रकट करते हैं। अपने भक्तों को बार बार अपना उपदेश देते दिखाई देते हैं।

जब उनके कृत्यों की इतनी ख्याति हो जाती है, उनके

भक्तों की भीड़ बढ़ जाती है तो अयोध्या में लौटने पर भी वह फिर मन्द नहीं होती। यह है राम का संक्षिप्त विश्लेषण।

उत्तरकाण्ड में राम का अनन्तत्व पूर्ण प्रस्फुटित हो गया। अब सभी जान गये हैं कि जिनमें हमें कभी केवल झलक दिखलाई पड़ती थी, वह तो वस्तुतः स्वयंभू हैं। यद्यपि लौकिक व्यवहारों का जहाँ तक संबंध है, रामचन्द्र जी का मानवीय रूप कहीं प्रतीत हो यह दूसरी बात है, परन्तु अब वह संकोच नहीं रहा। उत्तरकाण्ड के वशिष्ठ और बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड के वशिष्ठ पर सरसरी दृष्टि डालने से उनमें एक परिवर्तन दिखाई देता है।

वशिष्ठ जी राम के सम्बन्ध में जानते हैं; वे दशरथ जी को बतलाते हैं:—

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं।
जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयेउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी।
राम पुनीत प्रेम अनुगामी॥

इतना जानते हुए भी वशिष्ठ जब राज्याभिषेक का संवाद सुनाने राम के पास जाते हैं तो—

सुनि सनेह साने बचन,
मुनि रघुवरहिं प्रशंस।
राम कस न तुम कहहु अस,
हंस-वंस-अवतंस॥

रामचन्द्र जी की प्रशंसा करते हैं, और उनके 'गुन सील-सुभाऊ' की सराहना करते हैं, और 'हंस-वंस-अवतंस' कह कर उन गुणों को सूर्यकुल के लिए सहज और स्वाभाविक बतलाते हैं।

और हम रामचन्द्रजी में उन्हीं गुणों के होने का कारण बतलाते हैं। किसलिए मुनि ने जानते हुए भी इस अत्यन्त लौकिक शिष्टाचार को निबाहा? क्यों न कह दिया कि तुम सर्वेश्वर हो, तुम्हारी सारी बातें अद्‌भुत हैं?

चित्रकूट में वही वशिष्ठजी राम से कहते हैं:—

तुम बिन राम सकल सुख साजा, नरक सरिस दुहु राज समाजा।
प्रान प्रान के जीव के, जिव सुख के सुखराम।
तुम्ह तजि तात सुहात गृह, जिनहिं तिन्हहि बिधि बाम।
सो सुख धरमु करमु जरिजाऊ, जहँ न राम-पद पंकज भाऊ।
जोगु कुजोगु ग्यान अग्यानू, जहँ नहिं राम प्रेम परिधानू।
तुम बिनु दुखी सुखी तुम्हते ही, तुम्ह जानउ जिय जो जेहि केही
राउर आयसु सिर सबही के, बिदित कृपालहि गति सब जी के।

ध्यानपूर्वक यदि इन पंक्तियों को देखा जाय तो यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि वशिष्ठजी पहले पुर-पुरजनों के प्रतिनिधि की तरह बात आरम्भ करते हैं; धीरे धीरे उसमें से उस प्रतिनिधित्व की कमी होती जाती है, और अन्त में एक आवेश में बढ़ते बढ़ते वे मानों अपनी बात कहने लगते हैं। परिलक्षित तो यह होता है कि वे अभी कहना नहीं चाहते। पर आवेश भी कोई शक्ति है। वह कभी कभी अन्तर-रहस्य को प्रस्फुटित कर ही देता है, और इधर राम का अनन्तत्व भी कुछ अधिक जागृत हो गया है। अतः वशिष्ठ के वाक्यों में उसी परिमाण से लौकिक शिष्टाचार और आत्म-वेदना है।

यह वशिष्ठ जी उत्तरकाण्ड में रामचन्द्रजी की स्तुति करते

हैं और यह गुरु-पदवी स्वीकार करने की कथा का वर्णन भी करते हैं, और अपने को धन्य समझते हैं।

इन दृष्टियों से विचार करने पर इस में कोई संदेह नहीं रह जाता कि राम में दोनों तत्त्वों का बहुत ही गम्भीर और कलात्मक संयोजन हुआ है। उनका चरित्र न केवल कवि की ऊहात्मक कल्पना को सन्तुष्ट करने के लिए हैं, न कला की कोरी कलाबाजियां दिखाने के लिये है। उसमें जो रहस्य आ गया है वह आज का बिषय नहीं हो सकता। निस्संदेह तुलसीदासजी ने रामायण की रचना कथात्मक ढंग से लिखी है। तभी उनको शंकर-पार्वती, काग-भुसुंड-गरुड़, याज्ञवाल्क्य आदि की कथास्थलियों की रचना करनी पड़ी और इससे उसमें उस काल की धार्मिक-चर्चा (discourse) प्रणाली की कुछ झलक मिलती है। यह स्पष्ट उद्देश्य होते हुए कोई रामायण से सत्य-नारायण की कथा की तरह कोरी कथा होने की ही आशा कर सकता था, या कोरी बाइबिल और कुरान की तरह धार्मिक आदेशों का संग्रह मात्र समझ सकता – पर यह रामायण किसी भी Homer, किसी भी Shakespeare, किसी भी Dante की समानता कर सकती है—वह है कलात्मक व्यवस्था के कारण।

यदि शेक्सपीयर ने तुलसी की तरह एक धार्मिक वातावरण और लक्ष्य में अपने नाटक लिखे होते तो वह भी कभी यह कौशल न दिखला सकते। यह तुलसी का ही काम था जो मरु में रम्यस्थली बना दी।

ड़ः

'हिन्दी नाटकों में हास्य-रस'

'COMIC RELISH
IN
HINDI DRAMAS'

हिन्दी-नाटकों में हास्य-रस

संस्कृत-साहित्य पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि रसों का उद्भव नाट्यशास्त्राचार्यों के द्वारा हुआ। रस नाटकों के लिए ही आवश्यक समझे जाते थे। काव्य में उनका स्वतंत्र अस्तित्व माना जाना बहुत समय के बाद की बात है—उस समय की बात है जब ध्वनिकार और मम्मट ने उसे श्रव्यकाव्य में भी एक महत्व पूर्ण स्थान दिया। दृश्यकाव्य में तो रस का शिरोस्थान भरत ने निर्विवाद माना है—'नहि रसादृते कश्चिद् अर्थ प्रवर्त्तते' निस्संदेह वह काल ही ऐसा था कि काव्य में दृश्य-काव्य ही अधिक सम्मान्य समझा जाता था।

रस-प्रतिष्ठा

विशेष समय का अपना निजी स्थायित्व-व्यंजक प्रवाह होता है। यह विशेषता ही उस काल की संपत्ति और विकास की एक विस्पष्ट प्रगति की श्रेणी होती है।

वाग्धारा के प्रवाह ने आदि-काल से, आदि स्रोत से चलकर अनेक रूप ग्रहण किये हैं। यदि सरस्वती की सौम्य प्रसादी ने कहीं अलंकारों में मोह दिखाया है, तो कहीं चमत्कार पर ही विस्मित हो रह गयी; कभी व्यंग्य-दृष्टि में काव्य का आनंद लूटा तो कभी रस-रहस्य ही उसका सर्वस्व हो रहा। यही उसके विकास की सीढ़ियाँ बन गयीं।

इस काल में दृश्यकाव्य ही पारिजात हो रहा था। उसकी सुरभि ने वामन को मुग्ध कर लिया--और अभिनव ने तो यहाँ तक लिख डाला—'काव्यम् तावद् दशरूपात्मकम् एव—और भी 'लोक-नाट्य-धर्मी स्थानीय' काव्य हैं—उसने कहा—नाट्य एव रस-काव्ये च नाट्यमाना एव रसाः काव्यार्थः।

इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के उदय की बेला में नाटकों की अरुणिमा का रंग था—और उनमें रसों की प्रधानता थी--उनका जीवन ही रस था।

उधर योरप में हमें यद्यपि रस–जैसी किसी वस्तु का नामकरण तो नहीं दिखाई पड़ता, तो भी नाटकों ने जब Mystries और Moral plays की नीरस धार्मिक धुंध से निकल Miracle plays के रूप में चमत्कार पाया तो वे सिद्धान्तों और आदर्शों के फेर में न रहे। उनमें लौकिकता का प्रवेश हुआ। वे रोचक होने के लिए नमक–मिर्च का पुट पाने

ा। उनमें वह रस अलक्षित रूप से, चुपचाप बिना नाम के, थान पा गया। अतः रस की प्रधानता नाटकों में सभी जगह ान्य है! पर भारतीय तथा योरपीय दृष्टिकोण में ध्रुवांतर है। क ने कला के संजीवक सौंदर्य को देखा, दूसरा उसे ही बस मझकर रह गया! एक ने जीवन-कमल को विनश्वर जगत कलुष पंक से निर्लिप्त रखना सीखा था, उसके लिए माया का ह शोक-संकुलित सम्मोहन ही भी न था, फिर वह उसकी ला में क्यों आता! माया का कटु निःश्वास तो मनुष्य की ीवन-कलिका को प्रतिक्षण ही झुलसाया करता है—उनका स्तित्व है भी, और नहीं भी, पर वे अमर नहीं, इसमें तो कुछ ी संदेह नहीं। फिर जीवन की यथार्थता में उनका स्थान कहां —और कहाँ है उनमें कला का उद्रेक? अयथार्थता से यथार्थ-चरित्र का विकास-सूत्र ठीक नहीं पाया जा सकता। तब क्यों न कुछ क्षण के लिए इस अयथार्थता के विकट कटु मोह से विमुक्त हो अलौकिक आनंद में मग्न हुआ जाय! इसीलिए भारतीय काव्य ने निर्लिप्त-विमुक्त अलौकिकता को अपनाया और यह स्पष्ट विधान कर दिया कि नाटक दुःखांत न हों।

उधर योरप की जीवन-समस्या यथार्थता का सहारा लेकर कला के सौंदर्य में ही अपने को भूल गयी। वह आगे न बढ़ सकी। जीवन लिप्त है—विकास के लिए क्षेत्र पाने को तड़पता है। वह विकास की एक-एक डग समझता जाता है और सोचता जाता है। वह उस भूले व्यक्ति की तरह गिन-गिन कर पैर रखता है, जो त्रुटि देख पड़ने पर फिर उन्हीं पैरों लौट जाने का विचार करके आगे बढ़ा हो! भला इस विकास को हम विकास कह सकते हैं—इस उन्नति को उन्नति कह सकते हैं?

इसीलिए उनके यहाँ हृदय की यही कमजोर दिशा है—छिन्न जीवन की वह छटपटाहट है। उनके यहां दुःखांत नाटक हैं। वे कहते हैं—हम संसार में नित्य यही देखते हैं। पता नहीं, खाली आंखों देखते हैं अथवा माइक्रास्कोप से। इसीलिए दोनों की वस्तु चाहे एक ही हो, पर रंग भिन्न है, रूप भिन्न है, जीवन भिन्न है।

अपने साहित्य का अपना दृष्टिकोण तो है ही, पर इस युग में—इस विश्व-साहित्य के युग में—और इस भाषा-दासत्व के युग में—योरप के प्रभाव ने भी हमारे यहां अपना एक मार्ग बना लिया है। यहाँ हमें वर्तमान नाटकों के संबन्ध में योरप के प्रभाव की विशेष विवेचना नहीं करनी है। इतना जानना ही अभीष्ट है कि क्या भारत क्या योरप, दोनों के ही नाटकों में रस की प्रधानता रही। भारत जहां रस की स्थायी स्थिति के लिए पूर्ण मग्नता—तल्लीनता चाहता है, वह भी अलौकिक आनंद में, वहां योरप आवेग और तत्काल आनन्द चाहता है—ऐसा भेद क्यों है? इसका कारण स्पष्ट किया जा सकता है। रस में इस आवेग को भर देने का प्रयास आज हमें अपने नाटकों में देख पड़ता है।

हम नाटकों में रस की प्रतिष्ठा देख चुके। संस्कृत-साहित्य का उल्लेख करना इसलिए आवश्यक समझा कि हमारे हिंन्दी-साहित्य में जिस विषय पर हम लिख रहे हैं, संस्कृत से बहुत कुछ लिया गया, और शास्त्रीय दृष्टि से जिस प्रकार रसों का विवेचन उसमें हो चुका है, वैसा हिन्दी में अभी तक नहीं हुआ। विशेषतः नाटकों के संबंध में अंग्रेजी के द्वारा पाश्चात्य जगत

के दृष्टिकोण की छाप भी हमारे ऊपर पड़ी है, अतः योरप के दृष्टिकोण का भी वर्णन किया गया है।

अब यदि हास्यरस के सम्बन्ध में कुछ लिखा जायगा, यदि हम उसके विकास को हिन्दी-नाटकों में देखने का प्रयत्न करेंगे, तो सबसे पहले हमें उसके मूल-स्रोत पर दृष्टि डालनी होगी। मूल-स्रोत से जो मिला है, वह तो पायी हुई संपति है। उसका विकास हिंदी में हास्यरस का विकास नहीं। उसके अतिरिक्त अथवा उससे पृथक हिन्दी में उसकी प्रगति कैसी है, अथवा कैसी होनी चाहिये, इस पर अवश्व विचार करना होगा परन्तु हिन्दी के नाटकों में जो हास्यरस की सामग्री उपलब्ध है पहले उसकी समीक्षा करना ठीक होगा। उसके अनंतर हास्यरस के विकास में उनके स्थान का निश्चय किया जायगा।

नाटकों में हास्यरस की उपलब्ध सामिग्री

हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र जी से ही नाटकों का आरम्भ माना जाना ठीक है। प्रेम-जोगिनी की प्रस्तावना में उन्होंने स्वतः सूत्रधार से यही बात कहलवायी है। वास्तव में वह अनुवाद-युग था। संस्कृत और बंगला के अनुवादों की भरमार थी। भारतेन्दु जी ने स्वतः पांच बड़े-बड़े नाटकों का संस्कृत से अनुवाद किया। इसमें संदेह नहीं कि स्वतंत्र रचनाएं भी की गयीं और उन रचनाओं में संस्कृत-शास्त्र की जटिलताओं का अनुकरण नहीं किया गया, फिर भी उनका स्वर संस्कृत-नाटकों का स्वर है। उनमें नाटकों की अपनी मौलिकता नहीं। भारतेन्दु उस समय आदर्श स्थान पा गये, और बहुत काल तक साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उनका अनुकरण

किया गया। अभी कुछ साल पहले तक उनकी शैली साहित्यिक नाटकों में प्रधान रही। हाँ, उनके बाद उनके स्कूल का कोई भी अनुयायी हास्यरस पर क़लम भी न चला सका।

भारतेन्दुजी

भारतेन्दु जी के नाटकों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अन्धेर नगरी' प्रहसन हैं। वैदिकी हिंसा में अवाँछनीय तीव्रता है। हास्य तो है ही नहीं, व्यंग्य भी उपहासास्पद है। कवि ने व्यंग्य और भोंडेपन में भेद नहीं किया। भारतेन्दु जी से ऐसी कृति की आशा नहीं थी। 'अन्धेर नगरी' में व्यंग्य की उतनी मात्रा नहीं है। इसी में कुछ हास्य मिलता है, परन्तु वह भी बहुत कम मात्रा में। इनके व्यंग्य अथवा हास्य में गहराई नहीं। इनका हास्य परिस्थितियों के बेजोड़ संयोग-दर्शन तक ही सीमित रहा।

जी० पी० श्रीवास्तव

भारतेन्दु जी के बाद और भी नाटक लिखे गये, परन्तु हास्य रस के ऊपर क़लम नहीं चलायी गयी। हिन्दी-समाज में इस काल में अनेकानेक बुराइयाँ भरी हुई थीं, उनकी ओर समाज-सुधार की दृष्टि लगी हुई थी। कुछ विदेशी शासन से भी लोग उकता गये थे। अतः लेखकों की दृष्टि भी इन्हीं आन्दोलनों की ओर आकर्षित रही। जो कुछ व्यंग्य-हास्य लिखा गया, वह छोटी छोटी कटूक्ति तथा व्यंग्य पूर्ण लेखों में लिखा गया। नाटकों में उसे स्थान न दिया गया। अब हम बिलकुल ही आधुनिक युग में आ जाते हैं। इस समय हास्य की ओर आकर्षित करने का श्रेय जी० पी० श्रीवास्तव को है। उनके प्रहसनों

की धूम मच गयी, उनके हास्य ने लोगों को लोट पोट कर दिया। 'लम्बी दाढ़ी' लिखकर उन्होंने अपनी हास्य कुशलता को कसौटी पर कसकर देखा। फिर उन्होंने प्रहसनों की ओर पग बढ़ाया। इस ओर वह स्वतंत्र रूप से न बढ़ सके। फ्रांस के जगत प्रसिद्ध हास्य-रस-लेखक मौलियर का पल्ला पकड़कर चले। इनकी खासी धूम रही। वह समय आ गया कि अमेच्योर ड्रामाटिक क्लब (Ameture Dramatic Club) बहुधा कालिजों और स्कूलों में खुले। वे नाटक खेलते डी० एल० राय (द्विजेंद्र) का तो इंटरल्यूड (प्रहसन) रखते जी० पी० श्रीवास्तव का। इनके हास्य के सम्बन्ध में हमें कुछ विशेष नहीं कहना है। हास्य अथवा व्यंग्य में एक पक्ष की ओर झुकाव रहता है। मौलियर की यह विशेषता रही है कि वह अपने विरोधी पक्ष को, जितनी भी असमवेद्य-श्रेणी हो सकती है, उस तक पहुँचा देता था, और अपने पक्ष के समर्थन में जितना कुछ दिखा सकता था, दिखाता था। ऐसी दशा में उसके नाटकों का वास्तविक आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है, जब उसके समय अथवा समाज-जैसी ही कोई आक्षेप योग्य स्थिति हमारे यहाँ भी हो, अथच हास्य का विषय घृणास्पद, दयनीय तथा स्वतः हास्यास्पद न बन जाय। भारत के वातावरण के साँचे में फ़िट बैठाने की चेष्टा से मौलियर के नाटकों की छाया पर श्रीवास्तव जी ने जो प्रहसन लिखे हैं, उनमें वह बात नहीं। उनके स्वतन्त्र प्रहसनों में भी अपने गुरु की तरह कृत्रिम अस्वाभाविक स्थितियों का वैचित्र्य है, जो समवेदना के स्थान पर घृणा का उद्रेक कर देता है। पात्रों के साथ ठेठ निष्ठुरता की गयी है। वे पूरे 'चौखट' दिखायी पड़ते हैं, जैसे किसी में भी विवेक नहीं। यह हास्य नहीं, यह वह मखौल है जो भाँड़ों के अभिनय में मिलता है। दूसरे,

ऐसा प्रतीत होता है कि वे पूर्वी भाषा के पीछे पड़ गये हों-उसी का मजाक उड़ा रहे हों। उनके नाटकों में यदि किसी को हँसी आती है तो पूर्वी भाषा के प्रयोगों पर, जिसे देखकर सहृदय का हृदय दलक उठता है। भला एक भाषा का मजाक क्यों बनाया जाता है? उनके मजाक की भावना में तीव्रता और अशिष्टता दोनों ही विद्यमान हैं। इनके प्रहसनों के जीव किसी बिलकुल ही हास्यास्पद समुदाय के भोंदू दीखते हैं, जिनमें हास्य का सौष्ठव नहीं, उसकी मर्यादा नहीं, केवल उद्रेक है।

वद्रीनाथ भट्ट

दूसरे प्रहसन-लेखक पं० वद्रीनाथ भट्ट हैं। आपने जहाँ तुलसीदास, चन्द्रगुप्त तथा दुर्गावती जैसे नाटक लिखे हैं, वहाँ चुङ्गी की मेम्बरी, विवाह-विज्ञापन, मिस अमेरिकन आदि प्रहसन भी लिखे हैं। नाटकों में भी आपने हास्य की अवतारणा का प्रयत्न किया है, और बहुत ही यत्न के साथ अपनी इन कृतियों में विदूषक को स्थान नहीं दिया है। जो कुछ हास्य है, वह कथानक के कुछ प्रकृत पात्रों द्वारा ही अभिव्यक्त कराया गया है। पर वह हास्य नगण्य है, उसमें कुछ विशेष महत्त्व नहीं है। हाँ, हमें आपके प्रहसनों के हास्य और व्यंग्य को देखना है।

चुंगी की मेम्बरी में, जिस शैली पर इनके रस का प्रकाश हुआ है वह आगे के प्रहसनों में नहीं दिखायी पड़ता। इस प्रहसन में मेम्बरी के लिए उत्सुक अनपढ़ व्यक्तियों का नग्न चित्र-सा रख दिया है। वह सब वास्तव में हास्यास्पद है। परंतु जो शक्ति इसके रस में झलक रही है, वह गँवारू है। वह धीरे-धीरे परिपक्व होकर 'विवाह-विज्ञापन'-और 'मिस अमेरिकन'

जैसे प्रहसनों में हमें दिखायी पड़ती है। इनके ये सभी प्रहसन मौलिक हैं। किसी की छाया अथवा किसी के अनुकरण पर इनकी गति नहीं। अतः जी० पी० श्रीवास्तव जी के प्रहसनों की तरह इनके प्रहसन जबर्दस्ती किसी साँचे में नहीं बिठाये गये।

भट्टजी सिद्धांततः बंगाली रहस्यमय आवेश के विरोधी हैं। भावुकता का वह रूप जो केवल कलानातीत ही हो, आपको पसन्द नहीं। अतः आपके नाटकों में सीधे-सादे कथन दिखायी पड़ते हैं। कल्पना की भावुकता-भरी उड़ान इसी लिए नहीं मिलती कि आप उसे बंगाली प्रभाव समझते हैं, और उससे बचने के लिए सतर्क रहते हैं। अतः भट्टजी की शैली अपनी है। उन्होंने संभवतः नाटकों में हिन्दीपन ही रखने की प्रबल चेष्टा की है, और इस समय आप ही एक ऐसे नाटककार हैं, जो इस दृष्टि को कभी ओझल नहीं होने देते। और सभी नाटककारों में या तो बँगला के आवेश की अथवा योरुप के रंग का समावेश है।

इनका हास्य अपना है। इनके व्यंग्य का लक्ष्य अपनी समाज है। 'मिस अमेरिकन' में आपने अमेरिकन स्त्री समुदाय का पुंश्चलीपन चित्रित किया है। इसमें आपने (Parody) के द्वारा पुराने कवि तुलसीदास आदि के काव्यों के कुछ अंशों में परिवर्तन कर के एक पागल कवि का अंकन किया है। इनके पात्र जी० पी० श्रीवास्तव की तरह बिल्कुल चौखट नहीं, न इनकी भाषा ही असाहित्यिक है। परन्तु आप अवश्य ही हास्य की सीमा का उल्लंघन कर गये हैं। न जाने क्यों अमेरिकन समाज का इतना कठोर खाका खींचा है? मौलियर अपने विरोधी पक्ष को जितनी असमवेद्य श्रेणियाँ हो सकती हैं उनमें रख देता है।

परन्तु उसके साथ निष्ठुरता नहीं करता। आपने अमेरिकन समाज के जिस चित्र को सामने रक्खा है, उसमें मिस अमेरिकन के ही साथ नहीं वरन् सारी अमेरिकन समाज के साथ निष्ठुरता की गयी है। और उन पात्रों में व्यक्तित्व का अंश शून्य रहने के कारण वे समाज के प्रतीक (Type) मात्र रह गये हैं, इस लिए उनके अन्दर अभावात्मकता आ गयी है। एक अँगरेज-लेखक ने व्यंग्यमय हास्य (Satire) का विश्लेषण करते हुए लिखा है।

Most satirists are usually prone to the error of attacking either mere types, or else individuals too definitely marked as individuals. In the first case the point of zest of the thing is apt to be lost, and the satire becomes a declamation against vice and folly in the abstract,

वास्तव में भट्टजी के प्रहसनों में यही वस्तुओं के अभावात्मक रूप आ गये हैं, जिनसे हास्य की सजीवता नष्ट हो गयी है। इनकी भाषा अवश्य साहित्यिक है, परंतु गठन और योजना में, यहाँ तक कि वस्तु और शैली में भी, कोई साहित्यिकता नहीं। शृंगार और हास्य के लेखकों को बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। ये दोनों बड़े ही कोमल रस हैं। एक किंचित् असावधानी के कारण अश्लील हो जाता है, दूसरा भद्दा और गँवारू हो जाता है—हास्य के मार्दव से रहित अहितकर मखौल की उच्छृखल कटुता अथवा अश्लीलता का विचित्र विभ्राट् हो जाता है। मिस अमेरिकन, इसीलिए, जब कि सरस्वती में

प्रकाशित हो रही थी—साहित्य-महारथियों, साहित्य-प्रेमियों द्वारा अवांछित समझी गयी।

हिन्दी के ये दो प्रहसन-लेखक ❀ हैं। यों तो और भी एक-दो व्यक्ति कभी-कभी इधर अपनी लेखनी फिसला देते हैं, पर उनके अन्दर न तो कोई विशेषता ही है, न कोई उनकी धाक ही।

अब हम उन नाटकों को लेते हैं जो प्रहसन नहीं वरन् जिनमें कथानक के किसी अंश की तीव्रता के कष्टकर प्रभाव को मंद कर देने के लिए जहाँ-तहाँ हास्य का समावेश करने की चेष्टा की गयी हो।

ऐसे नाटकों के तीन भेद किये जा सकते हैं—

(१) विदूषक-संयुक्त

(२) हास्य-पात्र-संयुक्त

(३) प्रहसन-शृंखला-संयुक्त

विदूषक-संयुक्त नाटक

प्राचीन काल में प्रत्येक राधाधिराज के मनोरंजन के लिए एक बहुत ही विद्वान् ब्राह्मण रहा करता था। वह बहुत ही तीक्ष्ण बुद्धि और तत्काल-उत्तर देकर चित्तमें बिजली दौड़ा देनेकी शक्ति रखता था। ऐसा व्यक्ति संस्कृत-नाटक-परंपरा से राजकुमार-

---

❀ प्रहसन का अर्थ अब संस्कृत की पारिभाषिक सीमा के अंदर ही नहीं रह जाता है। हिंदी में प्रहसन के अर्थ में किसी भी ऐसे नाटक को लिया जा सकता है, जो हास्य और व्यंग्य के विचार से लिखा गया हो।

नायकों का अन्तरंग मित्र और उनका मनोरंजन करने वाला चित्रित किया गया है। वह राजा का मित्र था, सहायक था और मनोरंजन करने वाला भी। राजा के प्रत्येक भेद से वह परिचित रहता था, इससे यह भी सिद्ध है कि वह अत्यन्त विश्वसनीय होता था। ऐसा नहीं कि भारत में और संस्कृत-नाटकों में ही, प्रत्युत इस विदूषक के दर्शन हमें पाश्चात्य जगत् में भी कई रूपों में होते हैं। राजाओं के दरबार के Motley Fool यही विदूषक हैं।

विदूषक-परंपरा

हिन्दी के जो नाटक प्राचीन गौरव को लेकर किसी राजा के घटना-तारतम्य के आश्रय पर खड़े किये जाते हैं, जिनमें कुछ ऐतिहासिकता का भी विचार रक्खा जाता है, उनमें राजा के साथ विदूषक भी दिखलाया जाता है। हमें ऐसे विदूषक के भ्रष्ट रूप के दर्शन हिंदी के मौलिक लेखक श्रीजयशंकर 'प्रसाद' जी के नाटकों में मिलते हैं।

संस्कृत-नाटकों में विदूषक

संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने विदूषक को राजा का अन्तरंग मित्र, उसके कार्यों को सफलता दिलानेवाला एक आवश्यक साधन और 'पेटू' दिखाया है। नाटकों के धार्मिक मूल पर विचार करते हुए श्रीयुक्त Keith विदूषक का वर्णन करते हैं--

For the relegious origin of drama a further fact can be adduced, the character of Vidusaka, the constant and trusted companion of the king, who is the normal hero of an

Indian play, The name denotes him as given to abuse, and not rarely in the dramas he and one of the attendants on the queen engage in contests of acrid repartee, in which he certainly does not fare better.

संभवतः कीथ महाशय ने विदूषक के संम्बन्ध में यह धारणा राजशेखर की कर्पूरमंजरी के विदूषक के आधार पर बनायी है। जो हो, कीथ जैसे तथा विल्सन-जैसे पाश्चात्य संस्कृत-विद्वानों ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि विदूषक ब्राह्मण ही क्यों रक्खा गया ! वास्तव में राजा का सच्चा तथा अन्तरंग मित्र होने के लिए यह आवश्यक समझा गया होगा कि वह व्यक्ति विद्वान तथा तत्काल-उत्तर देने में समर्थ हो, साथ ही उच्च वंश का भी हो, ताकि उनकी पारस्परिक धार्मिक सन्धि में किसी प्रकार के रक्त-विकार के कारण मलिनता न आ जाय। हास्य के उद्भव में वैचित्र्य की प्रधानता रहती है । जब एक ऊचा श्रेणी का व्यक्ति किसी जाने-बूझे ढंग से अपने गौरव से उदासीन रहता है—नहीं, उलटे अपनी हीनता की घोषणा करता है, तो उसके लक्ष्य में वैचित्र्य देख पड़ता है, और हमें हँसी आ जाती है। कर्पूरमंजरी में राजशेखर का विदूषक जब कविता करता है, तो इसमें संदेह नहीं रहता कि वह जान-बूझकर ऐसी भद्दी रचना कर रहा है । कविता करते हुए भी उसका कथन—'मुझे जिसको काला अक्षर भैंस बराबर' और अन्य सभी बातें विचित्र प्रतीत होती हैं, पर गंभीरता न होने के कारण आश्चर्य में डालकर मन में गुद-गुदी उठाकर हँसी की रेखा खींच देती हैं। यही तथ्य

विदूषक के पेटूपन में है। वैसे तो पेटूपन स्वार्थ-चिंतन की ओर ही संकेत करता है, और नाटक में जीवन-संग्राम के एक विशिष्ट आवेशमय भाग के चित्रण में पेटूपन की पुकार जगत् की मधुर माया के अमर व्यापर की ओर भी मनुष्य का ध्यान आकर्षित कर लेती है। संसार में केवल प्रेम या लड़ाई ही एक सत्य नहीं 'पेट' भी एक अनिवार्य सत्य है। इस दार्शनिक समीक्षा के साथ भी राजा के अन्तरंग मित्र (विदूषक) का 'भूखे और भूखे' चिल्लाना-हर बात में पेट का रूपक लगाना सचमुच हँसी का कारण होता है। जो सबका अन्नदाता, जिसके साथ किसी बात की कमी नहीं, भोजन भी जहाँ विविध व्यंजन-रस पूर्ण--उसी राजा का मित्र पेट पर हाथ धरे और लड्डुओं के लिए लार टपकाये-क्या यह हँसी का कारण नहीं ? इसमें एक वैचित्र्य है, जो स्वार्थीपन की निर्मम नीचता की अतृप्त आकांक्षा पर आक्षेप करता-उसके चिर-असंतोष की ओर संकेत करता है। विदूषक को हमने इसी रूप में समझा है। वास्तव में कलात्मक हास्य-की कसौटी पर यह कहाँ तक खरा उतरा है, इस पर हम यहाँ कुछ नहीं कहना चाहते, और न यही कहना चाहते हैं कि संस्कृत-नाटककारों के समक्ष 'हास्य' का रूप क्या था। हमें तो यहाँ केवल एक प्रगति की ओर संकेत करना था, प्रसंगवशात् उसके रूप के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना पड़ा।

पेटूपन का प्रदर्शन

ईसा की तीसरी शताब्दी के लगभग भास ने विदूषक को इसी रूप में दिखाया है। उसके 'अविमारक' नाटक में विदूषक अपने स्वामी का भक्त है, वह उसके स्वार्थ-साधन के लिए जी-जान से सदा प्रस्तुत रहता है। युद्ध में भी कुशल है; पर वह पेटू है। भोजन का आनंद

उसके लिए भी बहुत ही आकर्षक है। 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' में वासवदत्ता को वह याद करता है, पर इसी लिए कि वह उसकी मिठाई की चिंता रखती थी, उसके लिए मिठाई का प्रबंध रखती थी।

मृच्छकटिक का विदूषक भी इस पेट पीड़ा का प्रकीर्णक है। वह अपने स्वामी का भक्त है। संकट में उससे पृथक् नहीं होता—उसके हितार्थ जान पर खेल जाने के लिए तैयार रहता है। पर भूख—वह स्वाद—वह ऐश—इन पर वह फ़िदा है, इनके लिए वह उत्सुक रहता है। वसन्तसेना की पाँचवीं ड्योढ़ी में पहुँचकर वह कहता है। 'यहाँ वसन्तसेना का रसोई गृह मालूम होता है। क्योंकि अनेक प्रकार के व्यंजन में हींग और जीरे की महक से हम-जैसे दरिद्रों की लार टपकी पड़ती है। एक ओर लड्डू बंध रहे हैं, एक ओर मालपुआ बनता है; यहाँ कदाचित् कोई मुझसे खाने को झूठ पूछे, तो पाँव धो भोजन के लिए तुरन्त बैठ ही जाऊँ।'

कालिदास का माढव्य भी क्या इस पेट के परपट के बाहर है? रत्नावली और नागानन्द में भी विदूषक को इस पुट से संयुक्त कर दिया गया।

यही पेटूपन 'प्रसाद जी' के विदूषकों में भी है। 'अजातशत्रु' में उदयन का विदूषक जीवक से बात करता हुआ कहता है "हम लोग आया ही चाहते हैं, पत्तल परसा रहे—समझे न?"

जय शंकरप्रसाद

जीवक—अरे पेटू, युद्ध में तो कौवे-गिद्ध पेट भरते हैं।

बसन्तक—और इस आपस के युद्ध में ब्राह्मण-भोजन करेंगे—

और भी—

"जीभ अच्छा स्वाद लेने के लिए बनी है"

अजातशत्रु में विदूषक राजा का सहायक अथवा अंतरंग मित्र नहीं, वह तो पद्मावती के दूत की तरह आया है। उसका व्यंग्य अथवा हास्य भी जीवन का मखौल उड़ाने तक ही रह जाता है। न जाने किस दैव-संयोग से वैद्यों अथवा डाक्टरों की बड़ी धूल-दक्षिणा की जाती है, उन्हीं में ही प्रायः सभी देश के नास्यकारों—Satirists—को अपने हास्य के लिए सामग्री मिलती है। फ्रांस के प्रसिद्ध मौलियर, बंगाल के अद्वितीय द्विजेंद्र इन डाक्टरों की खिल्ली उड़ाने से नहीं चूके—वही खिल्ली प्रसादजी ने जीवक की उड़ायी है। पर वह बिलकुल अनैतिहासिक, विद्रूप तथा पात्र के गौरव के सर्वथा प्रतिकूल हो गयी है। इतिहास में जीवक अपने कौशल के लिए अपने समय का अद्वितीय माना गया है, जिसने भगवान बुद्ध तक की चिकित्सा की, जो बिंबसार का राजवैद्य था—उसकी विदूषक रेचक और पाचक में ही हँसी उड़ाले, और वह चुप सुनता रहे! यह या तो लेखक के इतिहास ज्ञान के संकुचित और अपूर्ण होने के कारण सम्भव हो सकता है, अथवा घोर असहृदयता का परिचायक है। हास्य में जब सहृदयता का लोप हो जाता है, सत्संवेदना का अभाव रहता है, तो उसका प्रवाह क्षुब्ध ही नहीं हो जाता, वरन् वह शुष्कता का एक अगम्य मरुस्थल हो जाता है। विदूषक नाम से ही पाठक अथवा श्रोताओं के हृदय में जो उत्सुकता हो जाती है, यदि

वह पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाती, तो उसका चित्रण सफल नहीं कहा जा सकता - वहाँ नीरसता और शुष्कता का आभास मिलता है, जिससे तबियत ऊब जा सकती है। स्कंदगुप्त का मुद्गल भी विदूषक है। उसके चरित्र में हास्य नहीं, उसकी बातों में हास्य नहीं। हाँ लड्डू और भोजनों के प्रति लालसा प्रकट करने के कारण उसमें परंपराजन्य हास्य समझा जाय, तो भले ही समझा जाय; अन्यथा उसमें विशेष कुछ भी नहीं। प्रसादजी के विदूषक तो व्यंग्य करने में भी मन्द हैं। शेक्सपियर के विदूषक (Fools) केवल हास्य के साधन-मात्र नहीं, वरन् वे उसके साथ जीवन की अलक्षित सार्थकता को अनायास ही सिद्ध करते रहते हैं। जीवन के झकझोरों की मार्मिकता का पता हमें विदूषक की हँसी की बातों में एक दार्शनिक के दर्शन से भी अधिक मिल सकता है। ऐसी कला प्रसादजी में नहीं। उन्होंने प्रयत्न अवश्य किया है। निस्सन्देह प्रसादजी परिस्थिति की कृत्रिमता और आडंबर विद्रूपता की शरण लेकर कभी अस्वाभाविक (Artificial) भोंडापन नहीं उपस्थित करते जिससे साहित्य की मर्यादा का उल्लंघन हो जाय, पर साथ ही उनके जीवन के बड़े कटु अनुभव संभवतः उन्हें इस संसार के हलके विक्षेप में विश्वास ही नहीं करने देते—फिर उनमें हास्य आवे कहाँ से ? वह किसी भी दशा में अपने को संसार से ऊँचा उठाकर हलकी दृष्टि नहीं डाल सके। वह उसके भीतर घुसे हैं—भीतर जो विषादपूर्ण सत्य का साम्राज्य है, उसे ही प्रकट कर सके हैं। विषादपूर्णः सत्य इसलिए कि ऊपर हमें जो दीख पड़ता है, वह वास्तविकता से विपरीत है; उसी विपरीतता का सत्य ज्ञान विषादपूर्ण हो सकता है। अतः प्रसादजी, कोशिश करने पर भी हलकी दृष्टि से जो भीतरी सत्य की तल-झलक

दीखती है, उसे व्यक्त नहीं कर सके। शान्ति और रक्षा का प्रश्न भट्टारक उठाता है। मुद्गल प्रवेश करके उत्तर देता है—'रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी। अक्षय तूणीर अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परन्तु इस अक्षयमंजूषा का हाल बिना मेरे कोई नहीं जानता।'' इस व्यंग्य में, इस कुशल कटाक्ष में भी वह असत् और सत् का कटु अनुभव झांक रहा है, फिर हास्य कहाँ?

अतः इनके विदूषकों में तो न तो कोई व्यंग्य करने में विशेष चतुर हैं, न हास्य उपस्थित करने में ही। बस वे एक अनुचर-मात्र हैं। अतः संस्कृत-विदूषक के वे ऐतिहासिक भग्नावशेष हैं, जिन्हें देखकर विगत च्युत वैभव की याद ही आ सकती है, मनोरंजन नहीं हो सकता।

स्कंदगुप्त में मुद्गल का यदि विश्लेषण किया जाय, तो हर बार उसका भिन्न रूप देख पड़ेगा। यदि उसके वक्तव्य के पूर्व मुद्गल न लिखा हो, तो यह समझना भी महादुष्कर हो जाता है कि यह विदूषक है। एक ही अंक में चार स्थलों पर मुद्गल के चार भिन्न रूप ऐसा न-जाने क्यों किया गया?

'प्रसाद' जी विदूषकों को न रखते, तभी अच्छा था। उस दशा में प्रवाह में नीरसता तो न उत्पन्न होती।

सात

'भूषण कवि और उनकी परिस्थिति'

'POET BHUSHAN

and

HIS ENVIRONS'

"भूषण कवि और उनकी परिस्थिति"

परिस्थिति का प्रभाव
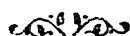
कवि की रचना पर समय का प्रभाव अवश्य पड़ता है। उस पर परिस्थितियाँ भी कुछ न कुछ शासन अवश्य रखती हैं। 'समय' अपनी अनन्त गति से चलता हुआ कवि के स्थान में बसन्त के फूल खिलाता है, कभी पतझड़ कर देता है। कभी वर्षा की कोमल फुहार से उस उद्यान में रस बरसा देता है, और कीच-रपट भी कर देता है। वही समय बसन्त के बाद गर्मी, बरसात और फिर जाड़ा लाता है। वही समय एक अंकुर को उगा कर उसे वृक्ष बना कर कलियों से लाद देता है और वे उसके अदृष्ट कोमल स्पर्श से विकसित होकर फूल हो जाती हैं। एक कवि की

प्रतिभा भी समय के इस अनन्त प्रभाव से बची नहीं रह सकती। समय रचनाओं को गति और विकास देता है, परिस्थितियाँ क्षेत्र और वातावरण। मेथी के खेत में उगी हुई मूली मीठी होती है।

कवि में दो बातें होती हैं-उसकी प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व। प्रतिभा और व्यक्तित्व अपने गुणों में एक दूसरे से विषम होते हुए भी एक दूसरे से घनिष्ठता पूर्वक सम्बद्ध हैं। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का संगठन बहुधा अपनी परिस्थितियों पर ही आश्रित रहता है। व्यक्तित्व की सीमा में ही प्रतिभा अपनी दिव्य ज्योति उत्कीर्ण करती है-व्यक्तित्व प्रतिभा के उत्पन्न होने का क्षेत्र है। देखें, भूषण के काव्य पर परिस्थिति का क्या प्रभाव पड़ा?

भूषण की परिस्थिति

भूषण का जन्म भारत के इतिहास के उस अशान्त युग में हुआ था जिस युग में मुग़ल-साम्राज्य सौ वर्ष की अवस्था भोगकर अपनी पुरानी सूखी हड्डियों के सहारे डगमगा रहा था, जिस समय औरंगज़ेब की धर्मान्धता के सन्निपात ने उसकी जर्जरित और शिथिल हड्डियों के संस्थान में पतन की ओर ले जाने वाला प्रकोप पैदा कर दिया था। जिस समय उस प्रकोप की प्रचंडता के असह्य झपेटों से सारा भारत विकल हो रहा था, जहाँ-तहाँ छोटे-मोटे राज्य उठ खड़े हुए थे और 'दिल्ली के पातशाह' को चैन न लेने देते थे-उसी अशांत युग में भूषण का जन्म हुआ था। दूसरी ओर भी अशांति थी। दक्षिण में महाराष्ट्र वीर शिवाजी हिन्दुओं की रक्षा के लिए सतत प्रयत्न कर रहे थे। उनका गेरुआ बैरख

धर्म-ध्वजा के रूप में मुसलमानों के अनय और अत्याचार से पीड़ितों को अभय का सन्देश सुनाकर उनके संगठन का चिह्न-सा हो रहा था। आये दिन मुग़लों और मराठों में युद्ध होते थे। आस-पास के छोटे-मोटे राज्य बीजापुर आदि तो त्रस्त हो ही बैठे थे। इस प्रकार उत्तर में 'मुग़ल-पातशाह' का पतन और दक्षिण में मराठों का उदय इस सन्धि और इस क्रान्ति के समय में ही भूषण का जन्म हुआ था। यह आठरहवीं शताब्दी का मध्य था।

राजनैतिक अवस्था

प्रायः सारा भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। मध्य-भारत में बहुत सी छोटी छोटी रियासतें थीं, ये राजपूत राजाओं के अधीन थीं। इनमें परस्पर बहुधा युद्ध होते रहते थे और मुग़ल-सम्राट् की आड़े समय में सहायता करने के लिए भी इन्हें तैयार रहना पड़ता था। राजपूतों की इन्हीं छोटी-छोटी रियासतों में इस काल के अनेक कवियों को आश्रय मिला था।

भूषण ने एक स्थाल पर ऐसे स्थानों का नाम गिनाया है, जहाँ कवियों का आदर होता था। वे कहते हैं—

मोरँग जाहु कि जाहु कुमाऊँ सिरी नगरै कि कवित्त बनाये।
बाँधव जाहु कि जाहु अमेरि कि जोधपुरै कि चितौरहि धाये॥
जाहु कुतब्ब कै ऐदिल पै कि दिलीसहु पै किन जाहु बुलाये।
भूषण गाय फिरौ महि मैं बनि है चित चाह सिवाहि रिझाये॥

यहाँ मोरँग, कमायूँ, श्रीनगर, बाँधव (रीवाँ), आमेर (जयपुर), जोधपुर, चित्तौड़गढ़, बीजापुर, गोलकुँडा, दिल्ली

आदि स्थानों के नाम यह बतलाते हैं कि यहाँ के राजे कवियों का आदर करते थे। उल्लिखित स्थानों में से कमायूँ, जयपुर और रीवाँ तो स्वयं भूषण भी गये थे। इसके अतिरिक्त चित्रकूट के राजा के यहाँ भी भूषण गये थे। यहीं के शासक हृदयराम सुत रुद्रशाह ने इन्हें 'भूषण'-उपाधि से विभूषित किया था। एक साधारण इतिहास का पढ़ने वाला इन राज्यों में से बहुतों के सम्बन्ध में कुछ भी न जानता होगा। ये बहुत छोटे राज्य थे। सभी प्रायः मुग़ल-सम्राट् के करद राज्य थे। परन्तु औरंगज़ेब को दक्षिण की मुसलमानी रियासतों से युद्ध में व्यस्त देखकर इन राज्यों में भी शान्ति न रह गई थी। पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के भाव प्रज्ज्वलित थे और इनके रहे-सहे जीवन के रस को शुष्क कर रहे थे। आमेर, मारवाड़ जैसे बड़े राजपूत-राज्य सम्राट् औरंग-ज़ेब की सेवा और ख़ुशामद में लगे रहते थे। सभी एक नशे में आँखें बन्द किये हुए निरन्तर आगे बढ़े चले जाते थे। चारोंओर घोर नैराश्य था। हिन्दू-प्रजा बुरी तरह सताई जाती थी, उसे धार्मिक कृत्य तक करने की सुविधा न थी—प्रजा के मन में एक विकलता उठ पड़ी थी, 'रैयत' के हृदय में एक कसक थी।

प्रजा अब केवल यह संदेश सुनकर ही सन्तुष्ट नहीं रह सकती थी कि 'जब जब होहि धर्म की हानी' तभी भगवान् अवतार धारण करते हैं और 'भगत-भूमि-भूसुर-सुरभि' हित मनुज-चरित करते हैं। अब तो वे निश्चयात्मक शब्दों में यह सुनना चाहते थे कि 'औरंगज़ेब असुर अवतारी' के लिए 'ब्रजराज' ही शिवाजी के रूप में अवतीर्ण हो गये हैं।

जिन लोगों की ओर, जिन राजपूत राजाओं की ओर प्रजा किसी आशा से देख सकती थी, उनका रस चूसा जा चुका था।

भूषण ने कितनी सुन्दरता-पूर्वक हिन्दू-राजाओं की दयनीय और असमर्थ दशा को दिखला कर उस समय की राजनैतिक स्थिति का चित्र अंकित किया है। वे कहते हैं—

राना भौ चमेली और बेला सब राजा भये,
ठौर ठौर रस लेत नित यह काज है।
सिगरे अमीर आनि कुँद होत घर घर,
भ्रमत भ्रमर जैसे फूलन की साज है।।
भूषन भनत सिवराज वीर तैं ही देस,
देसन में राखी सब दच्छिन की लाज है।
त्यागे सदा षटपद पद अनुमान यह,
अलि नवरंगजेव चंपा सिवराज है।।

और भी स्पष्ट करते हैं—

कूरम कमल कमधुज है कदम फूल,
गौर है गुलाब राना केतकी बिराज है।
पाँड़रि पँवार जुही सोहत है चंदावत,
सरस बुन्देल सो चमेली साजवाज है।।
भूषन भनत मुचकुन्द बड़गूजर है,
बघेले बसन्त सब कुसुम-समाज है।
लेइ रस एतेन को बैठि न सकत अहै,
अलि नवरंगजेव चम्पा सिवराज है।।

जब राजाओं की ऐसी दशा हो तब बेचारी प्रजा क्या करे? मन्दिर गिराये, वेदों का पढ़ना रोका गया, हिन्दुओं की सुन्नत की गई, कलमा पढ़ने के लिए बाध्य किये गये -ऐसी थी

उस समय की राजनैतिक स्थिति। निराश प्रजा को शिवाजी की विजय-माला सुनाना आवश्यक था।

धार्मिक अवस्था

मुसलमानों की सभ्यता से संघर्ष होते ही भारत में एक विशाल परिवर्तन आरम्भ हो गया। १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में यह परिवर्तन दक्षिण में भारी हल-चल पैदा कर चुका था। इस हलचल ने भारत के धार्मिक वातावरण में एक नया रंग भर दिया। यह भक्ति का रंग था। भूषण यद्यपि इस भक्ति-धारा से सीधे प्रभावित हुए नहीं प्रतीत होते, तदपि जो समय के नसों में भिदा हुआ रस है वह कभी उस समय की कृतियों में बिना रमे नहीं रह सकता। इसका प्रभाव भूषण की प्रवृत्ति पर इतना ही पड़ा कि उन्होंने जो लक्ष्य ग्रहण किया उसमें अनन्यता की झलक दिखाई पड़ती है। उन्होंने शिवाजी को विष्णु का सिद्ध अवतार माना और राष्ट्र को सन्देश दिया कि विष्णु अवतार ले चुका है। यह सामयिक सन्देश भारतीय जातीयता में एक नई विद्युत् भर सका। जो काम सूरदास ने कृष्ण की मनोरञ्जक लोक-विमुग्धकारी लीलाओं को सुना कर हमारी शिथिलता को दूर करने में किया; और तुलसीदास ने 'रामावतार' की सम्भावना बताकर जिस आशा का जीवन हममें भर कर हमें खड़ा किया, उसकी सिद्धि की सूचना हमें भूषण ने देकर उस काम की अवतारणा पूरी कर दी। असुर अवतारी औरंगजेब के लिए शिवाजी व्रजराज होकर आ गये हैं। जातीय जीवन जोश से उमड़ पड़ा और उसने सचमुच उन धार्मिक अत्याचारों का एक प्रकार से अन्त कर दिया। मराठा-स्वराज में राम-राज्य की कल्पना पूर्ण होती कुछ समय के लिये दिखाई पड़ी।

जिन दो सभ्यताओं का संघर्ष मुसलमानों के आने के समय से हुआ और जिससे मुक्ति पाने के लिए भक्ति-संप्रदाय ने भारतीय मस्तिष्क को निर्लिप्त बनाने के लिए प्रयत्न किया उस भक्ति का अन्त हम भूषण के समय के बाद देखते हैं। मुसलमानों का वह अत्याचार और भक्ति का भी स्रोत मन्द-सा पड़ गया। भारतीयों को शिवाजी में किसी अवतार की कला देख पड़ी और उन्हें यह बात ठीक ही समझ पड़ी कि "यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्" ॥ बस, भूषण ने घोषित कर दिया कि शिवाजी व्रजराज हैं। उन्होंने शिवाजी को विष्णुरूप में देखा और कहा—'और बाँभननि देखि करत सुदामा सुधि, मोहि देखि काहे सुधि भृगु की करत हो?'। भूषण में धार्मिक धारा के प्रवाह की झलक दीखती है। तुलसीदास के बाद सचमुच हिन्दू-जाति को भूषण की आवश्यकता थी।

धार्मिक परिस्थिति का एक और भी रूप था। भारतवर्ष के तत्कालीन शासन में तलवार और धर्म इन दोनों का विशेष हाथ था। वह तलवार का युग था। मुग़लों के राज्य की नींव तलवार की पतली धार पर रक्खी हुई थी। इसके साथ ही वह धार्मिक कट्टरता का भी युग था। तलवारों में राजपूती वीरता और मुसलमानी वीरता का सामना था। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान धर्म का संघर्ष था। औरंगज़ेब के समय तक हिन्दू और मुसलमानी संघर्ष को, १००० वष के लग-भग हो चुके थे। एक धर्म ने दूसरे पर काफ़ी प्रभाव डाला था। दोनों ओर ही विचारों में विप्लव हुआ, सहन-शक्ति बढ़ी। यहाँ तक कि अकबर ने धर्मान्धता के पतनोन्मुखी परिणाम को समझ कर धार्मिक कट्टरता से अपना हाथ एक दम

खींच लिया। उसने एक विभिन्न-जाति-संयुक्त राष्ट्र के प्रतिनिधि का सुन्दर आदर्श अपने रूप में भारत के इतिहास में उपस्थित किया। उसने राजपूतों से सम्बन्ध तक किये। यह अति दीर्घ कालीन संघर्ष से घबरा उठने और थक जाने के कारण हुआ। परन्तु धर्म का 'जेहाद' (?) औरंगज़ेब के ज़माने में फिर उठ खड़ा हुआ। यह धार्मिक विद्वेषानल हिन्दुओं के लिए घातक था। इसी ऐतिहासिक स्थिति को लक्ष्य कर भूषण ने लिखा है—

और पातसाहन के हुती चाह हिन्दुन की।
अकबर साहजहाँ कहैं साखि तब की।
बब्बर के तब्बर हुमायूँ हद्द बाँध गये,
दो मैं एक करी ना क़ुरान वेद ढब की।

परन्तु अब क्या हो गया?

'कासी हू की कला जाती मथुरा मसीत होती,' और
······सुनति होति सबकी'

मुग़ल-सम्राट् के धार्मिक अत्याचार के कारण हिन्दू मात्र के हृदयमें यह भयंकर भय घर कर बैठा था। चारों ओर अत्याचार और उत्पात था। हिन्दू-धर्म की इस स्थिति को भूषण ने बार बार व्यक्त किया है। वे लिखते है—

'कुम्भकर्न असुर औतारी अवरंगजेब,
कीन्हीं कत्ल मथुरा दुहाई फेरी रब की।
खोद डारे देवी देव सहर मुहल्ला बाँके,
लाखन तुरुक कीन्हे छूटि गई तबकी।
भूषन भनत भाग्यो काशीपति विश्वनाथ,
और कौन गिनती में भूली गति भव की।'

और 'चारौं बर्न धर्म छोड़ि, कलमा नेवाज पढ़ि'
'.........सुनति होति सबकी ।'

हिन्दुओं में कायरता आगई थी, मुसलमानों में जोश था। हिन्दुओं को अपने देवताओं पर विश्वास न रहा था। भूषण ने कुछ ऐसी ही ध्वनि में देवताओं का नाम लिया है—

गौरा गनपति आप औरन कें देत ताप
अपनी ही बार सब मारि गये दबकी

हिन्दुओं के समय भूषण की दृष्टि में, एक और गर्हित दृश्य था कि—

पीरा पयगंबरा दिगंबरा दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गई रही बात रब की।

ऊपर की इन पंक्तिओं में भूषण अपने हृदय की मार्मिक व्यथा को न छिपा सके। उन्होंने हिन्दुओं के भारी पतन की ओर इस पद्य में संकेत किया है।

साहित्यक अवस्था

हिन्दी-साहित्य में भक्ति-काव्य का स्रोत मन्दा पड़ गया था। केशवदास ने संस्कृत-साहित्य के 'साहित्य-सम्प्रदाय' के अध्ययन के बाद जो अलंकार, रस, नायक-नायिकाओं पर ग्रन्थ लिखे थे, उनका अनुकरण इस अठारहवीं शताब्दी में बड़े प्रबल वेग से होने लगा था। यह काव्य 'रीति-काव्य' कहा गया है।

इस रीति काव्य की दो भारी विशेषतायें थीं—एक तो इसमें शास्त्रीय पद्धति के अनुसार अलंकार, रस, नायक-नायिका के ऊपर विचार किया गया, इनकी परिभाषायें की गईं और प्रधानतः इन्हीं परिभाषाओं के उदाहरण-स्वरूप कुछ काव्य लिखे गये। ऐसे काव्य स्वभावतः ही स्फुट पद्यों के संग्रह-मात्र थे। दूसरे इन उदाहृत-पद्यों में विशेषतः श्रृंगार-रस की प्रधानता रहती थी। 'रीति-काव्य' को पोषण करने में तत्कालीन कवियों के आश्रयदाता राजाओं की प्रवृत्ति का भी बहुत कुछ श्रेय था। उनकी दशा नैतिक दृष्टि से अत्यन्त दयनीय हो गई थी। उनकी वीरता निश्चेष्ट होकर सो रही थी. आलस्य की सहजन्य विलासिता दोनों स्वर्णपरों को पसारे भारत के राजपूती भाग्याकाश में मुक्त होकर चक्कर काट रही थी। जो कुछ वीरता अथवा कार्यपरता शेष थी वह मुग़लों की दासता में दिल्ली तख़्त को अपनी मर्यादा समझ उसकी असत्य हितचिन्तना में व्यस्त थी। फिर किसे छुट्टी थी रोंगटे खड़े कर देने वाली वीर-भेरी सुनने की. कौन 'दिल्लीश्वरो परमेश्वरो' को छोड़कर 'राम' अथवा 'कृष्ण' का नाम जपने के लिए अपना समय निकालता और कौन 'दिल्ली पादशाह' का कोप-भाजन बनने का साहस करता? भोग-विलास की मात्रा बढ़ी हुई थी, अभिसार और सहेट की बातों में, स्त्रियों के नख-शिख की सूक्ष्म विवेचना में, इशारेबाज़ियों और कनखियों में जो 'अदा' और 'अन्दाज़' था, जिसमें मुसलमानी चुलबुलाहट और मद के शरूर की साफ़ झलक थी, उसे छोड़ कर राजाओं के लिए अपने मिजाज़ को ठीक रखने के लिए और क्या था? इसीलिए रीति-काव्य का इस काल में प्रणयन हुआ।

इस समय इसकी इतनी प्रबलता थी कि बिना अलंकार

आदि विषयों पर शास्त्रीय पद्धति के अनुसार काव्य लिखे 'कवि' कहलाना कठिन था। इस काल में कवि अपने आश्रयदाताओं के सम्बन्ध में झूठी-सच्ची प्रशंसा करके अपना पेट पाला करते थे। भूषण ने इसी बात की ओर संकेत किया है। वे कहते हैं—

भूषन यों कलि के कविराजन,
राजन के गुन गाय नसानी।

उस समय प्राकृत की गुण-गाथा में अत्यन्त संलग्न सरस्वती सिर धुन कर पछता रही थी।

संस्कृत में इस समय एक विशेष प्रकार की प्रथा में ग्रन्थ लिखे भी जा रहे। कवि अपने आश्रयदाता राजा के यहाँ रह अलंकार आदि विषयों पर ग्रन्थ लिखता और उदाहरण के लिए अपने 'राजा' की प्रशंसा में बनाये हुए पद्य लिख देता था। इस प्रथा का आरम्भ सबसे पहले दक्षिण में ही दिखाई पड़ता है।

१३ वीं शताब्दी में वारंगल (एकशिला) के काकतीय राजा प्रतापरुद्र के नाम से 'विद्यानाथ' नामक एक कवि ने 'प्रतापरुद्र-यशो-भूषण' ग्रन्थ रचा। इस कृति में उदाहरणार्थ दिये गये सभी पद्य प्रतापरुद्र, वीररुद्र अथवा रुद्र की प्रशंसा में लिखे गये हैं। पण्डित रामकर्ण कवि ने राजपूताने के किसी यशवंतसिंह राजा के नाम पर 'यशवंत-यशो-भूषण' लिखा। १४ वीं शताब्दी के लगभग दक्षिण के अनन्तार्य ने 'कृष्णराज-यशो-डिण्डिम' लिखा। १५०१–१५२६ के लगभग गंगानाथ

मैथिल कवि ने बीकानेर के श्रीकर्ण (लूणकर्ण) राजा की आज्ञा से 'कर्ण-भूषण' ग्रन्थ लिखा। १७ वीं शताब्दी के आरम्भ में 'नञ्जराज' नामक राजा था। इसी के प्रशस्त यश के पद्य उदाहरण में देते हुए नञ्जराज के आश्रित कवि नरसिंह ने 'नञ्जराज-यशो-भूषण' शास्त्रीय पद्धति में लिखा। इस प्रकार 'भूषण' लिखने की प्रथा का तांता हमें संस्कृत में मिलता है। और दक्षिण में इसकी विशेष गति देख पड़ती है।

भूषण की राष्ट्रीय प्रतिभा को इस प्रगति ने आकर्षित किया और उन्होंने शास्त्रीयता के प्रभाव में आकर जो अलंकार-ग्रन्थ लिखा उसका नामकरण शैली के अधार पर 'शिवराजभूषण' किया। इस प्रकार वे अपने समकालीन कवियों के 'नायिका' वर्णन के चक्कर से बचकर निकल गये। उनकी प्रतिभा ने, कम से कम हिन्दी में, एक नया मार्ग इस प्रकार उपस्थित किया।

यह परिस्थिति का ही प्रभाव था और उसकी अभिव्यक्ति करने के कारण भूषण हिन्दी के कवियों में अपनी निराली स्थिति रखते हैं

BIBLIOGRAPHY.

I. Growth of Bhakti-Poetry in Hindi.

1. Bardai: Prithiviraj Raso. N. P. Sabha, Benares.
2. Macdonald: India's Past.
3. Jayasi: Padmawat.
4. Kabir Granthawali by S. S. Das, Benares.
5. Kenopnishad.
6. S. M. Das Gupta: Hindu Mysticism. Lect. II.
7. Mysticism: Enc. Britt.
8. Mundaka Upanishad. 9. Kath Upanishad.
10. Studies in Islamic Mysticism.
11. The Idea of Personality in Sufism.

II. Evolution of Vishnu.

1. S. Radha Krishnan: Indian Philosophy Pt. I.
2. Winternitz:
3. H. Brunnhofer: 'Uber den Geist der indischen Lyrick.'
4. Maxmuller: Sanskrit Literature.
5. Sathpath Brahaman.
6. Furquhar: An Outline of the Religious Literature of Hindus.
7. Brahadaranyak,
8. Rgveda (Swadhyaya Mandala Ajmer) 9. Weber:

III. Krishna of Surdas.

1. The Pushti Marga of Vallabha Acharya: Indian Historical Quarterly.
2. Furquhar: An Outline of the Religious Literature of Hindus.

3. Bhandarkar : Vaisnavism, Saivism.
4. Sur Sagar. 5. Wilson : Vishnu Purana.

IV. Muslim Influence on Ashtachap.

1. Bhushan : Granthawali. 2. Kalidas : Shakun
3. Elliot and Dowson. Vol. IV. 4. Smith : Akb
5. Havell : Aryan Rule in India.
6. Al Badaoni : Muntakhab-ul-Tawarikh.
7. Goswain Gokulnath : Chaurasi Vaishnavon ki V
8. R. C. Shukla : Bhramargita
9. Atharva Veda. (Swadhyaya Mandal, Ajmer.)
10. Abul Fazl : Akbar Namah.
11. Rabindra Nath Tagore : Personality.

V. Cohesion of Two Elements in Rama.

1. Ish Upanishad. 2. Shrimad Bhagwat Gita.
3. Browning : Grammarian's Funeral.
7. Parbati Mangal.

IV. Comic Relish in Hindi Dramas.

1. Bharat : Natya Shastra. 2. Hasa : Dasrupa.
3. S. K. De : History of Sanskrit Literature.
4. A. W. Ward : English Dramatic Literature.
5. Wilson ; Hindu Drama.
6. S. Das : Bhartendu Natkawali.
7. Dryden. 8. Kieth ; Sanskrit Drama.

VII. Poet Bhushan and his Environs.

1. Bhushan : Granthwali.
2. Griffith : A History of Mahratta Power.
3. Tod : Rajasthan.